गगनाञ्चल

वर्ष 11 अंक 4 1988

प्रकाशक
ललित मानसिंह, महानिदेशक,
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्,
नयी दिल्ली-110002

संपादक
गिरिजा कुमार माथुर

सहायक संपादक
डॉ. अमरेंद्र मिश्र

आवरण
कांतिराय

मुद्रक
वीएपी एन्टरप्राइज़िज एच -24
ग्रीनपार्क एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-110016

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु. 5.00	र 20.00	रु. 50.00
£ 1.00	£ 4.00	£ 10.00
$ 2.50	$ 10.00	$ 25.00

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त सगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सास्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (**गगनाऽचल**), अंग्रेजी (**इंडियन हराइज़न्स, अफ्रीका क्वार्टरली**), अरबी (**सक़ाफ़त- उल-हिंद**), स्पेनिश (**पपेलस-दे- ला-इंडिया**) और फ्रेंच (**रेकौंत्र अवेक लैंद**) भाषाओं में है। हिंदी, अंग्रेजी, अरबी, स्पेनिश और फ्रेंच त्रैमासिकों की शुल्क दरें साथ दी हुई हैं। 'गगनाऽचल' के शुल्क के भुगतान से संबंधित पत्र-व्यवहार और प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाऽचल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए:

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट
नयी दिल्ली-110002

गगनाञ्चल

वर्ष 11, अंक 4, 1988

जैनेंद्र-स्मृति

बातचीत

निबंध

नाटक

कहानी

कविताएँ

पुस्तकें

रपट

स्व. श्री भगवतीशरण सिंह हिंदी के प्रतिभाशाली लेखक, निबंधकार, कथाकार और वन्य-जीवन विशेषज्ञ थे - वन्य जीवन के संबंध में उनका बड़ा गहरा अध्ययन था। उन्होंने हिंदी-अंग्रेजी में समान रूप से लेखन कार्य किया और दोनों ही भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित हुईं। व्यक्ति लेख (Personal Essay) की विधा को उन्होंने पुनर्जीवित किया था। 'गगनाऽचल' के पिछले दो अंकों में 'वे चेहरे' शीर्षक के अंतर्गत उनके दो लेख प्रकाशित हुए थे। उनके आकस्मिक निधन से एक जीवंत लेखक, एक स्नेहशील और अत्यंत आत्मदानी व्यक्तित्व हमारे बीच से उठ गया है। उनके प्रति 'गगनाऽचल' परिवार की ओर से आत्मीय श्रद्धांजलि।

संपादकीय

जैनेंद्र-स्मृति

एक परंपरा स्रोत का अंत

हिंदी के वरिष्ठतम कथाशिल्पी एवं साहित्य मनीषी श्री जैनेंद्र कुमार की अनन्य जीवन-यात्रा 24 दिसंबर 1988 को प्रातः काल समाप्त हो गयी। दस दिन बाद ही, यानी 2 जनवरी 1989 को वे अपने 84 वर्ष पूरे करने जा रहे थे। लगभग दो वर्ष पहले वाणी के इस अप्रतिम कृती की पक्षाघात ने वाणी ही छीन ली। तभी से वे रोग शैय्या पर थे। शब्द के साधक की वाणी ही चली जाए और वह मूक विवश आँखों से सबकुछ देखते-समझते हुए भी बोल न सके, इससे बड़ा संताप और कुछ नहीं हो सकता। उनकी इस विवशता से हम सब भी संतप्त और दुखी हो जाते थे लेकिन वे अपनी अपरास्त जिजीविषा के साथ रोग से भी जूझते रहे। जिस कृतिकार ने सहज शब्दों को भी दर्शन और चिंतन की गहराई से भरा वह आयु के अंतिम चरण में मौन होकर क्रमशः महामौन में लीन हो गया। उनके साथ आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओं की एक समूची पीढ़ी को इस शताब्दी के इन 88 वर्षों ने हमसे छीन लिया है।

जैनेंद्र जी जिस काल खंड में साहित्य के मंच पर आए थे वह भारत के राजनीतिक - सामाजिक परिवर्तन का निर्णायक समय था। पहला महायुद्ध समाप्त हो चुका था। महामारी, गरीबी, दासता में देश डूबा हुआ था। स्वाधीनता की क्रांतिकारी चेतना चारों तरफ व्याप्त थी। महायुद्ध के ठीक बाद 1919 ई. में जलियां वाला बाग का हत्याकांड हुआ जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने देश की आम जनता के सामूहिक मुक्ति प्रयास पर हिंसात्मक दमन का पहला क्रूर प्रहार किया था। गांधी जी के नेतृत्व में व्यापक मुक्ति संग्राम शुरू हो गया था। उसी वर्ष (सन् 1919) जैनेंद्र ने हस्तिनापुर के गुरूकुल से आरंभिक शिक्षा प्राप्त करके प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में हाईस्कूल पास किया था और बनारस विश्वविद्यालय में दाखिला लिया था। किंतु 1920 में गांधी जी के आह्वान पर उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और स्वाधीनता - आंदोलन में कूद पड़े। सन् 1923 से लेकर 1932 तक बार-बार जेलकी यातनाएं सहीं और कुल मिलाकर 22 महीने कारावास का जीवन बिताया। उनकी प्रतिभा पर इस लंबे संघर्ष का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उसे प्रखर धार प्राप्त हुई। एक ओर वह गांधी जी के अपरिग्रह, अनुशासन, त्याग और आत्मदान के आदर्शों के वैचारिक अनुयायी बने, दूसरी ओर समाज में फैली विडंबना, विकृतियों और मिथ्याचारी व्यावहारिकता से पूरी तरह परिचित हुए। क्रमशः वे अपनी विचारधारा को विकसित करते गए। उन्होंने समाज के बाह्य परिवर्तन से ज्यादा महत्व मनुष्य की मानसिक मुक्ति को दिया। अंततः उनकी मान्यता यह बनी कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था की मुक्ति तबतक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक मनुष्य की मानसिकता न बदले। रूढ़िवादिता और जर्जर परिपाटी से जकड़े समाज में आचरण के दुहरे मानदंड पल रहे थे। सार्वजनिक और व्यक्तिगत व्यवहार के बीच गहरी खाइयां

थी। शब्द और कर्म में मेल नहीं था। परिवार, विवाह, प्रेम, स्त्री - पुरूष संबंध, पाप-पुण्य की मौखिक मान्यताएं तथा उसके ठीक विपरीत आचरण, पातिव्रत्य, सदाचार, चरित्र आदि सभी दृष्टियों से सारा समाज दुहरे पाखंड में जी रहा था। इस आडंबर भरी स्थिति ने सारे वातावरण को कुत्सित और विकृत कर दिया था। नारी को शाब्दिक गरिमा से मंडित करके वास्तविक जीवन में वही पुराना सामंती शोषण और दमन लगातार हो रहा था। शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्तरों पर स्त्री अत्यंत पीड़ित, दमित और त्रस्त थी। सार्वजनिक रूप से घोषित नैतिकता का स्थान पैसे ने ले लिया था। पुरानी सामंती दासता का शिकंजा एक तरफ था दूसरा तरफ मुक्ति का प्रबल वेग उससे टकरा रहा था। हिंदी कथा-साहित्य प्रारंभिक किस्सागोई से तब तक आगे बढ़ चुका था। वह मनुष्य की बाहरी और भीतरी दुनिया में गहराई से झाँकने लगा था। परिवर्तन काल की इस प्रबल टकराहट को सबसे समर्थ कलात्मक वाणी प्रेमचंद ने दी थी। उन्होंने बदली हुई मानवीय स्थिति और संवेदनाओं के बहुत बड़े सामाजिक वृत्त को समेटकर कहानी तथा उपन्यास का आधुनिक और श्रेष्ठ प्रतिमान हिंदी में प्रतिष्ठित कर दिया था। कथा शिल्प को प्रेमचंद ने यथार्थ का आधुनिक 'महाकाव्य' बना दिया था। जैनेंद्र जब युवा कथाकार के रूप में अपने पहले कहानी-संग्रह 'फांसी' के प्रकाशन के साथ सामने आये तब तक प्रेमचद महान प्रकाश स्तंभ बन चुके थे। बांग्ला में शरतचंद्र की ख्याति हो चुकी थी। उन्होंने भारतीय नारी के संकट को उजागर किया था। लेकिन प्रेमचंद के अत्यत व्यापक सामाजिक सरोकार के सामने शरद बाबू का रचनावृत्त सीमित था। युवाकथाकार जैनेंद्र के सामने ये प्रतिमान चुनौती बनकर उस समय खड़े थे। जैनेंद्र ने इस चुनौती को रचनात्मक क्षेत्र में स्वीकार किया और नए युग के अनुरूप स्त्री-पुरूष के पारस्परिक द्वन्द्व तथा मनोदशाओं की परतों को उघाडकर अपनी मौलिक दिशा निर्धारित की। इस प्रकार 1929-30 जैनेंद्र के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण वर्ष सिद्ध हुए। वे प्रेमचद और रवींद्रनाथ ठाकुर के सपर्क में आए। गांधी जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ, उनका विवाह हुआ, 'परख' जैसा उपन्यास प्रकाशित हुआ, इलाहाबाद से 'एकेडमी पुरस्कार' मिला और जैनेंद्र ने साहित्य में अपना स्थान बना लिया। उसके बाद वे लगातार बढ़ते चले गए। 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'विवर्त', 'दशार्क' - एक के बाद एक उपन्यास हलचल मचाते गए। 'सुनीता' से लेकर हर कहानी, हर उपन्यास पर विवादों का खूब शोर मचा। जैनेंद्र की चिंतन प्रधान रचनाओं से भी ऐसा ही हुआ। 'काम, प्रेम और परिवार,' 'जड की बात,' 'साहित्य का श्रेय व प्रेय', 'प्रेम और विवाह', 'नारी,' 'नीति और राजनीति' सभी कृतियां व्यापक चर्चा का विषय बनीं। अपनी 64-65 वर्ष की अनवरत साहित्य साधना में उन्होंने सत्तर कृतियों की रचना की और कथा, आलोचना, दर्शन, संस्कृति, धर्म, राजनीतिक चिंतन, संस्मरण, नाटक, यात्रा-निबंध अनुवाद तथा बाल-साहित्य से हिंदी का अक्षय भडार भर दिया। वे सही अर्थ में आधुनिक हिंदी साहित्य की मनोवैज्ञानिक कथा-धारा के सूत्रधार थे।

ऐसे बहुआयामी शीर्षस्थ कृतिकार के अमूल्य अवदान की स्मृति में 'गगनाऽचल' परिवार तथा भारतीय सांस्कृतिक सबंध परिषद् की ओर से हम अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

गिरिजा कुमार माथुर

खोज : जीवन के यथार्थ की

विष्णु प्रभाकर

जीवन क्या है ? -वैज्ञानिक, दार्शनिक, शासक, व्यापारी और सर्जक न जाने कब से कैसे-कैसे उत्तर देते आये हैं इस प्रश्न के । अभी-अभी देहमुक्त जैनेंद्र को याद करते मुझे लगा कि जीवन बस नर-नारी के संबंधों की खोज है । आप मुझे पागल की संज्ञा दे सकने को स्वतंत्र हैं पर, मुझे लगता है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब इन्हीं दो शब्दों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रमाणित करते आये हैं ।

जैनेंद्र के संबंध में यह विचार कैसे उभरा ? वे मेरे बहुत निकट थे प्रतिभा में नहीं, मात्र मानवीय संबंधों के कारण । उन्हें पढ़ा भी, देखा भी, सुना भी बहुत उनके बारे में । कड़वा, मीठा, चटपटा और उन्हें छोटे से छोटा प्रमाणित करने वाला भी । दोषारोपण और प्रत्यारोपण की कला में भारतवासियों को कोई नहीं हरा सकता । इस क्षेत्र में प्रभु (यदि वे कहीं हैं) की उन पर बड़ी कृपा है।

पर हम अभी थोड़ा इस कुहासे को किनारे रख कर, कुछ उनके भीतर झाँकने की धृष्टता करना चाहते हैं । है तो यह दुस्साहस और हम यह भी जानते हैं कि हम कहीं पहुँच भी नहीं पायेंगे । कोई कभी पहुँचा ही नहीं क्योंकि अभीष्ट पहुँचना नहीं होता, पहुँचने का प्रयत्न होता है । यह प्रयत्न ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है, झूठ नहीं, मिथ्या ।

जैनेंद्र हमें इसी राह के राही लगे । जीवन भर अपने आलस्य और अपने सपनों के बावजूद वे निरंतर खोज करते रहे, नर-नारी के संबंधों की खोज, यानी जीवन की खोज । परख की कट्टो से लेकर दशार्क की 'रंजना' तक । यही खोज उन्हें भटकाती रही । दशार्क उनका अंतिम उपन्यास है, उनकी खोज की सीमा । वे सफल हुए या असफल यह बात अर्थहीन है । अर्थवान है बस खोज की निरंतरता । यही सत्य है, यही सृष्टि का रहस्य है ।

लेकिन यह खोज मात्र फार्म (ढाँचे) की नहीं है । ढाँचा तो कथा को रूप देने के लिए है । खोज, प्यार और पैसे की सही शक्ति की है यानी नर-नारी के संबंधों का आधार प्यार है या पैसा । यही खोज लेखक को घर से विश्व तक ले जाती है । प्रेम का केंद्र घर है । वहीं से अपनी परिधि पर घूमता हुआ वह समस्त विश्व को अपनी व्याप्ति में ले लेता है । नारी का नाना रूप, बहु आयामी शोषण इसी पैसे के कारण है । वैसे ही अधिक से अधिक संपन्न और शक्तिशाली होने की लालसा विश्व की शक्तियों में धरती से हटकर आकाश पर काबिज होने की स्पर्धा पैदा कर रही है । उसका परिणाम हमारे सामने है ।

इस उपन्यास के संबंध में श्री गोविंद मिश्र ने लिखा है, 'दशार्क' को पढ़कर एक सुखद अनुभूति यह हुई कि कैसे रचनात्मकता विधागत सीमाओं को तोड कर उस रास्ते चलती है जिससे वह जाना चाहती है । जो 'दशार्क' को सिर्फ उपन्यास मान कर पढेंगे उन्हें निराशा होगी, होती

है। गो कि उपन्यास क्या है यह मुझे भी नहीं मालूम। प्रमुख औपन्यासिक तत्त्व तो है यहाँ, रंजना का घर छोड़ने से घर वापस आने तक का एक बारीक कथा तंतु ......

हम श्री गोविंद मिश्र से सहमत हैं। दशार्क उपन्यास है ही नहीं, मनोरंजन के प्रचलित अर्थों में तो कभी भी नहीं है। रंजना प्रतीक है, उस प्रतीक में गुँथी हुई है 'अर्द्ध नारीश्वर' की कहानी जिसके अर्थ भूल कर हम भटक रहे हैं अविचार के मरूस्थल में। तब क्यों न हम दशार्क को विचार - प्रधान उपन्यास मान कर चलें। तभी संभवतः उनकी वैचारिक यात्रा पाठक के अंतर में कुरेदना अथात् तलाश की व्यग्रता पैदा करेगी। क्योंकि उपन्यास का जो प्रतिपाद्य है उससे शायद ही किसी को असहमति हो। लेखक के सामने स्वस्थ समाज की एक परिकल्पना है। उसी को शब्दों में रूपायित करने की चेष्टा वे करते हैं।

जानना चाहते हैं कि समाज को अगर समाज होकर रहना है तो क्या उसकी परिचालना पैसे के द्वारा होगी या प्रेम के। आज जो गड़बड़ समाज की संरचना में दिखाई देती है लेखक की दृष्टि में उसका कारण यह है कि जहाँ प्रेम को केंद्र में रहना था वहाँ पैसा आ गया है। इसी मंत्र के नाना रूपों, नाना द्वंद्वों को उकेरती है 'दशार्क' की कथा। वैसे कथा इसमें है नहीं, चाही भी नहीं गई। जितनी भी है वह बस एक झीने साधन के रूप में है, साध्य नहीं है वह। साध्य तो कुरेदना, पैदा करना है। सारी नाटकीयता के बावजूद यही कुरेदना पाठक को आदि से अंत तक बाँधे रखती है।

रंजना जो घर में सरस्वती थी अपने पति से बिछुड़कर प्रेम के व्यवसाय में आती है। संपन्न परिवार में जन्मी, पली। पति चुना उसे जो विश्वविद्यालय में प्रथम आया था पर था निर्धन परिवार का इसी स्थिति ने आगे चलकर पति-पत्नी के संबंधों में विषमता पैदा कर दी। धनी पत्नी के सामने निर्धन पति हीन भाव से ग्रस्त हो गये। और उन्होंने मान लिया कि पत्नी में जो संतोष है वह ओढ़ा हुआ है, अंदर शिकायत है मुझ अपात्र से इसलिए वह पत्नी को धनी होकर ही पा सकेंगे। इस प्रक्रिया में जुआ आया, शराब आई, मार-पीट की नौबत भी आ गई। सरस्वती ने चाहा कि पैसे का स्थान प्यार ले पर शंका के रहते वह संभव न हुआ, तब रंजना का जन्म हुआ। उसने माना कि पुरूष प्रेम का भूखा है। उसी की तलाश में भटकता है वह। वैश्यालय इसीलिए अस्तित्व में आए पर वहाँ उसे सचमुच की संतुष्टि नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ तन का व्यापार मुख्य है। व्यापार पैसे के बल पर चलता है। प्रेम के बल पर नहीं। इसलिए रंजना अपने क्लीनिक में मन का अर्थात् प्रेम का व्यापार करती है। व्यापार इस अर्थ में कि बदले में प्रचुर मात्रा में पैसा आता है, प्रचुर मात्रा में ही उसका सदुपयोग होता है उनके अभाव दूर करने के लिए जो अभावग्रस्त हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि जब तक नर-नारी मित्र नहीं बनते तब तक समस्या सुलझ नहीं सकती। मित्र अपना-अपना अलग अस्तित्व बनाये रखते हैं। एक दूसरे में खो नहीं जाते लेकिन यह मतभेद सतह पर अधिक है। भावना बाज़ार की मनोवृत्ति से मुक्ति पाने की है। बाज़ार का आधार पैसा है और यह पैसा नारी को वस्तु बनाकर बाज़ार में ला बैठाता है। जब तक यह स्थिति है तब तक दहेज और वैश्यावृत्ति से मुक्ति नहीं है।

उसके क्लीनिक में नाना रूप अवांछित व्यक्ति आते हैं जिन्हें आज की सभ्य भाषा में सभ्य तो कहा ही नहीं जा सकता। जैसे तस्कर, हत्यारे आदि। आते वे भी हैं जो पैसे की शक्ति के बल पर सभ्य समाज में सम्मानित और पूजित हैं। लेकिन पैसा तो कभी-सीधी राह आता नहीं। ये पैसे वाले भी वे ही सब 'कर्म' करते हैं जो तस्कर करता है। ऊपर की इस कृत्रिम असमानता के बावजूद अंदर उनमें एक अद्भुत समानता है, वे बिखरे और टूटे हुए हैं। प्यार की अव्यक्त

ललक है उनमें । तभी तो इतनी बड़ी फीस देकर आते हैं उनके पास । रंजना मानती है कि वह ललक पूरी हो सके तो वे अपने को पहचान सकते हैं और पैसे के प्रति उनका अतिरिक्त मोह समाप्त हो सकता है । रंजना के माध्यम से लेखक बताना चाहता है कि प्यार के अपने स्थान पर आते ही पैसे की शक्ति समाप्त हो जायेगी । पुरूष पैसा, बाजार, स्पर्धा और हिंसा का प्रतीक है और नारी प्यार शांति, त्याग और घर की । लेकिन अपने आप में दोनों अधूरे हैं । नारी के गुणों के बिना पुरूष अधूरा ही नहीं , असफल भी है । आज के संघर्ष के मूल में यही 'असफलता' है । इससे मुक्ति पाने के लिए उसे नारी के गुणों को अपने में समाहित करना होगा।

जैनेंद्र जी मानते हैं कि नारी पुरूष से श्रेष्ठ है । उसे ही पैसे के मोह से मुक्ति पाना है । मुक्ति पायी नहीं कि पुरूष उसका मित्र बना नहीं । व्यापार का अर्थ है पैसा, पैसे का अर्थ है खरीद औ-फरोख्त । फिर तो स्पर्धा, संघर्ष, हिंसा वह सब कुछ है जिससे आज जग पीड़ित है । नर के मन में नारी की चाह पाप नहीं है; दोनों में सहज आकर्षण है । इसी आकर्षण की चर्चा करते हुए वे कहीं पहुँच जाते हैं, "सोचें क्या है जिस पर हम टिके हैं । धरती के लिए कहा जाता है उसे गुरूत्वाकर्षण।अपने लिए कर दीजिए स्वत्वाकर्षण लेकिन किसी के लिए वह काफी नहीं है । हर कुछ प्रत्याकर्षण में आबद्ध है । चाँद धरती के और धरती सूरज के प्रति चकराये बिना न रहेगी । यह प्रत्याकर्षण लेकिन सारा सौरमण्डल जैसा कि सारा मानव संसार एक परमाकर्षण में खिंचा जा रहा है । स्वयं अपने प्रति और दूसरे के प्रति आकर्षण इस परमाकर्षण के अंगभूत हैं ।"

दशार्क के सभी चरित्र रंजना का पति हो, माणिक सेठ हो, कालिचरण हो, माधव बगडिया हो, फ्रांस का पियरे हो, वेश्या हो या गृहस्वामिनी हो यहाँ तक कि ऊपर से कठोर दिखने वाली परिमिता हो, सबमें प्यार की ललक है । प्यार के अभाव में सब भटकते हैं । देखने में यह सब लेखक के हाथ की गढ़ी कठपुतलियाँ लगते हैं लेकिन उन सबके भीतर जो कुरेदना है वह निखूंट सत्य है ।

इसलिए परिणाम में जो हासिल होता है वह रंजना का सुख नहीं है गहरी कुरेदना है और वही कुरेदना 'दशार्क' की शक्ति है और प्रतिपाद्य विषय भी । यह आवश्यक है कि इस उपन्यास को पढ़ते समय पाठक अपने को उन सब पूर्वाग्रहों से मुक्त कर ले जो लेखक को लेकर उसके मन में रच बस गये हैं । अर्थात् दार्शनिक जटिलता और बुद्धि के ताप के विरोध को प्रतिपाद्य विषय बनाकर भी, उससे मुक्ति न पाने की विवशता को, हम उपन्यास के हार्द को समझने में बाधा न मानें । चूँकि उपन्यास में रंजन ढूँढे नहीं मिलेगा इसलिए रहस्य रोमांच और भावुक रोमांस के लोभी पाठकों को मुक्त प्रेम और वेश्या के रहते भी निराश होना पड़ेगा । मतभेद की गुंजाइश ही गुंजायश इस उपन्यास में है । प्यार, स्त्री और वेश्या के प्रति लेखक के दृष्टिकोण को लेकर ही नहीं बल्कि मार्क्स के मूल्यांकन को लेकर भी, लेकिन यही गुंजाइश तलाश को प्रखर बनाती है ।

चरित्र-चित्रण यहाँ गौण है फिर भी मानिक सेठ का चरित्र कम जटिल नहीं है । उपन्यास में वही तनाव पैदा करता है । लेखक ने बड़ी कुशलता से उकेरा है, उसे, वैसी ही है पारमिता । इनका सारा आक्रोश, सारी फुंकार स्वाभाविक है । पियरे, जैन मुनि विद्यासागर, स्वामी अभेदानंद, माननीय मंत्री महोदय । ये सब रंजना के विरोध में नहीं हैं बल्कि उसे शक्ति देने के लिए हैं । वे मानते हैं कि प्रेम का केंद्र घर है । घर से निःसृत होकर ही वह बाजार को सिंचित कर सकेगा । स्वयं रंजना भी तो कहती है "घर के केंद्र से अलग होकर नागरिक धर्म से च्युत हो गयी हूँ । बूँद की तरह से छिटककर सागर से अलग जा पड़ी हूँ । "

जैनेंद्र मार्क्स के निदान से इनकार नहीं करते। उनका कहना है कि मार्क्स पैसे की शक्ति से आतंकित हो गए। मूल में शायद उनका मानस पूँजी की ताकत के बोध से मुक्त नहीं आतंकित था इसलिए वह ताकत वहाँ से गयी नहीं अधिक केंद्रित और पूँजीभूत हो गई।

जैनेंद्र जिस मार्ग की ओर संकेत करते हैं वही सही है यह दावा अस्वीकार करके भी जिस समस्या की ओर वह संकेत करते हैं वह और परेशान करने वाली है यह तो मानना ही पडेगा। और यह भी कि उसका हल ढूँढते-ढूँढते हम निरंतर हिंसा और शोषण का शिकार होते जा रहे हैं। महानाश की इस विभीषिका से बचने के लिए आज सभी व्याकुल हैं। दिग्गज और अदने सभी चिंतित हैं कि कोई मार्ग नहीं मिला तो . . .

दशार्क में ऊपर से वह नर-नारी की समस्या है पर वे ही तो पैसे और प्यार की संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। बड़ा अजीब लगता है कि नकली दिमाग और मशीनी मानव के युग में कोई घर और प्यार की बातें करे। इसी दुःस्साहस पर हमें सोचना है। रास्ता वही न हो जो दशार्क का है पर जगत को अगर जीते रहना है तो कोई रास्ता चाहिए ही। यह महत्व कम है क्या किसी रचना का। बल्कि महत्व अगर होना है तो यही होना चाहिए।

एक बात खटकती है। बुद्धि के ताप से बचाना चाहता है लेखक पर उपन्यास की संरचना पर बराबर उसी की छाया मंडराती है। संतुलन नहीं साधा जा सका विचार और कर्म में। लेखक को अभीष्ट भी नहीं है शायद। प्रारंभ में घर में जिस सहजता का संकेत है। क्लीनिक में जाकर वह सहजता, विचार और तर्क के व्यामोह में खो जाती है। व्यामोह इसलिए कि कहीं वही शब्दों का खेल, नाटकीयता और दार्शनिकता इतनी अधिक है कि पाठक सहज नहीं रह पाता। रंजना भारी है सब पर, बराबरी पर आती ही नहीं कभी। आतंकित करती है बार-बार। हम चकित होते हैं और झुंझलाते हैं। क्लीनिक में एक ओर सात्त्विकता का आग्रह दूसरी ओर शरीर को उघाडते चित्र। इसी शरीर को बचाने के लिए उसे घंटी बजानी पडती है। वेश्याओं को शरीर का व्यापार न करने की सलाह भी वह बड़े उत्साह से देती है। शरीर की रक्षा के प्रति यह मोह आज के मनुष्य को आडंबर ही लगेगा। वह नहीं मानेगा कि शरीर देना अंततः अपने को देने में बाधा बन जाता है। "यद्यपि आकर्षण शरीर का हो जो दोनों को पास लाता है तो भी वह जिस प्यास से दो पास आते हैं वह शरीर से कहीं-कहीं गहरी है।"

उपन्यास में सब कुछ कहा जाता है होता कुछ नहीं, लेकिन वैचारिक हलचल अवश्य पैदा होती है और उग्र रूप से होती है। यही शायद लेखक को अभीष्ट है। इसीलिए वह इसके बाद रंजना को अपने घर वापस ले जाते हैं क्योंकि प्रेम का केंद्र तो वही है। और प्रेम को विश्व में जाना है तो केंद्र से होकर जाना है, पति-पत्नी के संबंधों से होकर जाना है।

प्रश्न उठ सकता है कि यह अच्छा नहीं होता कि यह वैचारिक क्रांति पात्रों के मानसिक तनाव और घात-प्रतिघात के द्वारा अंकित हो सकती। तब शायद प्रभाव अधिक सघन होता। पर 'दशार्क' तो वैसा परंपरागत उपन्यास है नहीं। नये रास्ते की तलाश है उसे और तलाश कभी गलत नहीं होती, क्योंकि वहाँ अंतिम जैसा कुछ नहीं होता। नेति-नेति की पुकार है उसमें। इस तलाश की प्रक्रिया में रंजना कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है। "मैं निकली थी इसलिए कि प्रयोग करूँगी, सबको प्रेम दूँगी, सबका प्रेम पाऊँगी, यही है वह शक्ति जिसमें कि मानव जी रहा है। लेकिन हमने अपनी व्यवस्था के लिए विधि-निषेध उपजाए हैं। उस विधि, निषेध की रक्षा के लिए संस्था की रचना की है। अंतर्राष्ट्रीय और भूमंडलीय मुद्रा प्रणाली की बातें सोची जा रही हैं। विज्ञान ने अणु

शक्ति दी है तो गजब की तेजी आ गई है व्यापार में, व्यवस्था में और उससे बडा व्यवसाय। व्यवसाय ... जानते हैं क्यों ? क्योंकि स्त्री-पुरूष के बीच के सीधे-सादे आकर्षण को, प्रेम को उनकी परस्परता से खीचकर, वहाँ से तोडकर हमने इस उस आदर्श से जोड़ने की चेष्टा की है। वाद खड़े किये हैं। जो एक-दूसरे विवाद की वितंडा में से ही अखंड सत्य को एक चौखटे में जडकर मानव के सिर पर बिठा देना चाहते हैं। ...."

उपन्यास के सबसे विश्वसनीय स्थल वे हैं जहाँ लेखक मुद्रा की अतिशयता से मिलने वाली सुख-सुविधा और वेश्यापन में कोई अंतर नहीं देखता। है कहाँ जो देखा जाता। रंजना के मुँह से जब वह यह कहलवाते हैं कि "आप (वेश्याएँ) कुचली हैं, पामाल हैं, बेगैरत हैं, सबकी दुर-दुराहट के लिए पीकदान हैं, लेकिन मैं जानती हूँ कि आप थामे हुए हैं ऊपर, उस सारी चीज को जिसे तहजीब माना जाता है। पैसे का जो फरेब दुनिया को जकड़े हुए है उसको आप हम औरतों का प्यार ही तोड़ सकता है और आगे आने वाला जमाना इसी का इंतजार कर रहा है।" तो सारे मतभेदों के बावजूद हम 'आमीन' कह उठते हैं। और ऐसे स्थल अनेकानेक हैं इसलिए थोड़ी देर के लिए हम भूल जाते हैं काश, उपन्यास में जितना विचार यानी बुद्धि का ताप है, उतना आस्था का आलेपन भी होता। क्योंकि स्वयं लेखक मानता है कि धर्म आस्था से निभता है और बुद्धि सदा उसके आडे आती है। प्रेम भी आस्था से निभता है बल्कि हम तो कहेंगे कि आस्था का ही एक और नाम प्यार है। नहीं है क्या ?

प्यार की इस शक्ति को उकेरता 'दशार्क' क्या इसीलिए वरेण्य नहीं ? है। वह एक और कारण से भी वरेण्य है कि आयु सृजन की बाधा नहीं बनती बल्कि उसे प्रौढ़ता प्रदान करती है और वरेण्य बनाती है। 'दशार्क' उपन्यास की परंपरागत व्याख्या के अनुसार उपन्यास है या नहीं है यह बहस कोई अर्थ नही रखती। समाज में जब मूल्य ही गड्डमड्ड हो रहे हों तब उनको रूपायित करने वाली कृतियों का परंपरागत सांचा कैसे बना रह सकता है। आज का उपन्यास मात्र रंजन ही नहीं करता, मूल्यों का जायजा भी लेता है इसलिए 'दशार्क' में रंजन नायिका रंजना के नाम में हो सकता है, उसके व्यवहार में दिखाई नहीं देता। लेखक ने वास्तव में रंजन शब्द को उसके गूढार्थ में लिया है चालू अर्थ में नही।

□

सीमा में असीम खोजते हैं जैनेंद्र

ललित शुक्ल

जैनेंद्र कुमा" के साहित्य-सृजन की कई धाराएँ हैं । वे कहानी कहते हैं, उपन्यासों में मनुष्य को उकेरते हैं परखते हैं । पर इतने से ही उनका मन नहीं भरता । वे सोचते हैं, विचार करते हैं । चिंतन को नया आयाम देकर कोई न कोई दार्शनिक तत्त्व खोज निकालते हैं । इस सारी प्रक्रिया में वे अत्यंत सहज लगते हैं । न कोई छद्म और न बनावट । उनकी रचना-यात्रा के कई रूप हैं, विविधताएँ हैं, संगतियां हैं और विसंगतियां भी कम नही हैं । ऐसे ही कुछ मानव-जीवन भी होता है । वहां भी संगति और विसंगति का, प्रेम और घृणा का एक सामंजस्य-सा पाया जाता है । जीवन भर जैनेंद्र अपने चिंतन, दर्शन और साहित्य में इसी सामंजस्य को खोजते रहे हैं ।

यात्रा लंबी है । डगर कठिन है । संघर्षों से जूझना पड़ता है । हवा-बयार सहनी पड़ती है । बड़े चढ़ाव-उतार हैं । आंधी और तूफान की तो गिनती ही नहीं है । इधर आगे बढ़ने की ललक है । अदम्य उत्साह है । कुछ विशिष्ट कर डालने की चाह है । साथ ही इस जीवन के प्रति मोह भी है । यही कारण है कि जैनेंद्र कुमार का लेखक एक ऊँचाई पर पहुँचकर अपने वातावरण को प्रभावित करता है । उनको तो प्रभावित करता ही है जो उसको समझते हैं उन्हें भी प्रभावित करता है जो उसे नहीं समझ पाते । कोशिश करने के बावजूद वह पकड़ में नहीं आता है । पकड़ में आने पर भी छूट जाने की पूरी संभावना रहती है ।

जैनेंद्र कुमार के रचनागुरू आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने एक बार कहा था कि जैनेंद्र तो जलेबीनुमा साहित्य लिखते हैं । कदाचित् उनका मंतव्य रहा हो कि आदि और अंत के सिरे को पहचाननें में दिक्कत होती है । पर जलेबी में आदि-अंत के झमेले के बावजूद रस तो भरा ही रहता है । जैनेंद्र सपाट किस्सागो नहीं हैं । कहा न कि यहाँ तो राहों से राहें फूटती हैं । और जैनेंद्र कुमार के लेखक के लिए सभी महत्वपूर्ण हैं । उनकी जीवनी और रचनाधर्मिता की प्रक्रिया की पड़ताल के लिए हम आपको पीछे ले चलते हैं ।

बीसवीं शताब्दी की शुरूआत थी । गुलामी के दिन थे । समाज के ऊपर शासन की पकड़ में कसाव था और शासकों ने पूरे समाज को कई स्तरों पर बाँट रखा था । राजा, महाराजा, उच्च, नीच, अधम जाने कितने तो भेद थे । वर्णाश्रम धर्म अलग था जो अपने सनातन रूप में अधिकांश समाज को ग्राह्य था ।

मेरे कुरेदने पर जैनेंद्र जी ने अपना बचपन याद किया ।

सब सुनी-सुनायी बातें हैं । कुछ माँ रामदेवी बाई ने बतलायी थीं । मामा भगवानदीन से भी अनेक बातों का पता चला था । उत्तर प्रदेश का नाम तब मुमालिक मुत्तहदा आगरा व अवध रहा होगा । इसी प्रदेश का अलीगढ़ जिला और वहीं का कस्बा कौड़ियागंज, 2 जनवरी सन् 1905 ई. को जैनेंद्र के जन्म के समय किसी बड़ी-बूढ़ी ने बहुत हुलस कर नामकरण किया था - 'सकटुआ' । और यह नाम ज्यादा समय तक जैनेंद्र के साथ नहीं रहा । यह जन्म की तारीख भी

बहुत प्रामाणिक नहीं है। अनुमानतः कोई एक तारीख खोज ली गयी थी। बाद में जैनेंद्र के लेखक का वही जन्म दिन बन गया। संभव है 'सकटुआ' नाम किसी अनिष्ट की आशंका से रखा गया हो। पुत्र जन्म के समय जैनेंद्र के पिता कहीं बाहर गये थे। लौटने पर खबर सुनी। उन्होंने ही 'सकटुआ' नाम बदलकर आनंदीलाल नाम रखा। पुत्र-जन्म का समय उछाह का होता है, आनंद का होता है। सो आनंदीलाल नाम से जैनेंद्र की बालपन की पहचान बनी।

जैनेंद्र का खानदान पल्लीवाल नाम से जाना जाता था।

पल्लीवालों में दो वर्ग थे। उनमें एक तो सयतानी और दूसरा फतेहपुरिया नाम से प्रसिद्ध था। जैनेंद्र कुमार इसी फतेहपुरिया वर्ग के थे। एक बडा समाज छोटे-छोटे समाजों में बँटा था। यह विभाजन और वर्गों में आगे बँटता गया। यदि बँटवारे के कारणों की पड़ताल की जाय तो पता चलेगा कि कारण बहुत ही नगण्य थे पर मन माने की बात है। ज्ञानी-विज्ञानी लोगों के होते हुए भी समाज निरंतर बिथराता चला गया। पल्लीवालों के यहाँ कपड़े पर छापी लगाने का काम होता था। यह पेशा खानदानी था। जहाँ तक होता परिवार के लोग अपने पुश्तैनी धंधे में ही रूचि लेकर लग जाते। जैनेंद्र के पिता प्यारेलाल कपड़े की पैंठ करते थे। यदि उनकी देखरेख में जैनेंद्र का पालन-पोषण होता तो आगे का क्या रास्ता बनता, अनुमान लगाना सहज है।

प्यारे लाल जी अपनी कर्मठता और पुत्र-स्नेह की गठरी लेकर असमय ही चले गये। अपने आनंदी लाल के भविष्य के बारे में उनकी क्या चिंता थी, कोई जान न पाया। भविष्य को अज्ञात की संज्ञा भले दी जाती हो पर कभी-कभी वर्तमान भी अनजाना रह ज़ाता है। असमर्थ मानव मूक बना सारा दृश्य देखता रहता है। अवश होने पर उसकी सारी सूझ-बूझ और कर्मठता गायब हो जाती है। दो वर्ष की उम्र का शिशु न तो अपना वर्तमान जानता है और न अतीत। भविष्य की तो बात करनी ही नहीं चाहिए। दो वर्ष की आयु की पितृहीनता ग्रंथियों का कारण बन सकती थी पर ऐसा नहीं हुआ। माँ का वात्सल्य और मामा का स्नेह ही इस दो साल के शिशु का सहायक बना। जैनेंद्र के नाना गंगाराम जी अतरौली के रहने वाले थे। यह भी अलीगढ़ जिले का ही एक कस्बा है। यहाँ मुस्लिम प्रभाव ज़्यादा था। ननिहाल में बच्चे को लाड़ ज़्यादा मिलता है। मामा की सलाह पर अपने दो साल के पुत्र को गोद में लेकर जैनेंद्र की माँ अतरौली चली गयी थीं। दोनों बेटियाँ भी साथ ही थीं।

लड़की के लिए पिता का घर सुविधाओं का भंडार होता है।

दुःख का हिमालय पार कर जैनेंद्र की माँ अतरौली पहुँची थीं। कौड़ियागंज पीछे छूट गया था। जैनेंद्र की स्मृति में अपने पितृ-स्थान का महत्त्व था पर इतना ही कि वे वहाँ पैदा हुए थे। जब तक आदमी का वश चलता है, यादों की गठरी को लादे चलता है। थक जाने पर सारा बोझ उतार फेंकता है। जैनेंद्र को कौड़ियागंज से ज्यादा अतरौली याद है। वहाँ का वातावरण, बाजार, घर, दुकानें, पेड़-पल्लव सभी जैसे उनके बचपन के संगी-साथी हो। जैनेंद्र कुमार की दो बड़ी बहनें थीं सुभद्रा और सौभाग्यवती।

अतरौली में ही जैनेंद्र को अक्षर-ज्ञान का मौका मिला। अलिफ, बे नहीं सीखा। विपत्ति की आंधी अभी रूकी नहीं थी। नाना भी असमय ही स्वर्ग सिधार गये। बालक जैनेंद्र वह इम्तहान दे रहा था जिसका परीक्षाफल किसी निश्चित तारीख को नहीं निकलता था। उनके मामा महात्मा भगवानदीन पर पूरे परिवार का बोझ था ही। संस्कारी व्यक्ति थे। अनुशासन की नींव पर उनके व्यक्तित्व की इमारत खड़ी थी।

भगवान दीन जी कलियुग में रहने वाले सतयुगी व्यक्ति थे। जैनेंद्र के व्यक्तित्व पर उनकी अमिट छाप है जैसे अभी कल की ही बात हो। दुनिया अपनी चाल चलती है। यहाँ कौन किसकी चिंता करता है। एक भगदड मची है, जिसके पैर मजबूत हैं, वह आगे बढ़ रहा है, जो कमजोर हैं वे नीचे गिर रहे हैं। पीछे से आने वाली भीड उन्हीं के ऊपर से गुजर रही है। कौन देखता है मुड़कर । जैनेंद्र जिस वक्त ये सारी बातें याद करते हैं, उनके चेहरे पर एक अचरज भरी निरीहता उभर आती है।

समय पंख फैलाकर उड ही रहा था। उसकी त्वरा देखकर जैसे महात्मा भगवानदीन अपने सारे काम समय से पहले ही कर लेना चाहते थे। भगवानदीन जी एक प्रकार से जैनेंद्र के दिग्दर्शक थे, टॉर्च बियरर थे।

कांगड़ी की यात्रा के दौरान महात्मा जी के मन में एक रचनात्मक कल्पना आयी। क्यों न एक गुरूकुल की स्थापना की जाये। घर के बच्चे तो पढ़ेंगे ही, समाज पर भी उसका असर पड़ेगा। इन्हीं विचारों की नीव पर हस्तिनापुर (मेरठ) में महात्मा भगवान दीन ने ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम नाम से गुरूकुल की स्थापना की। सबसे पहले पाच छात्रों को प्रवेश दिया गया। इन पाँचो में एक नाम आनंदीलाल का भी था। उम्र थी सात वर्ष । गेदालाल का लडका देवेंद्र भी इसी गुरूकुल का छात्र था। हस्तिनापुर के लिए मेरठ से थोड़ी दूर तक पक्की सडक, आगे कच्ची। कुल दूरी थी चौबीस मील।

जंगल, जैनतीर्थ, जैनियों के दो मंदिर, जैन धर्मशाला यही सब मिलाकर हस्तिनापुर बनता था। अब उसमें ऋषभ ब्रह्मचर्य आश्रम का एक अच्छा नाम और जुड गया। इसी गुरूकुल में आनंदीलाल का नया नामकरण जैनेंद्र कुमार किया गया था।

महात्मा भगवानदीन एक स्थान पर रूककर काम करने वाले नहीं थे। सत्याग्रह, जेलयात्रा और अन्य कई सक्रियताओं में वे व्यस्त रहते थे। जैनेंद्र ने मैट्रिक की परीक्षा प्राइवेट से पास की थी। आगे की पढ़ाई करने सेण्ट्रल हिंदू कॉलिज बनारस गये। लेकिन गुरूकुल आश्रम से बाहर आने पर जैनेंद्र का जीवन एक खास सांचे में ढल चुका था। सेण्ट्रल हिंदू कॉलिज काशी हिंदू विश्वविद्यालय का ही एक अंग था। वहाँ जिस नये वातावरण से साक्षात्कार हुआ वह जैनेंद्र के लिए उपयुक्त और उपयोगी दोनों था। यादों के अलबम में कहीं लिखा-बचा है कि लाला भगवानदीन ने जैनेंद्र को हिंदी पढाई थी। मलकानी महोदय की अंग्रेजी शिक्षा भी भूली नहीं है। स्मृतियों की पिटारी खुलती है तो खुलती ही जाती है। इनका एक सहपाठी था शिवदास गुप्त हरी। उसकी कविताओं की प्रशंसा करते हुए जैनेंद्र दूर कहीं यादों के बियावान में खो जाते हैं।

नदी मेरी स्मृति में बसती है। उसकी चर्चा मुझे बहुत लुभाती है। नदी के स्वभाव के स्त्री और पुरूष दोनों मुझे बहुत प्रिय लगते हैं। यह और भी अधिक अच्छा लगता है कि हर नदी का स्वभाव अलग-अलग होता है। गतिमयता और एक लापरवाह अग्रसारण तो सभी में होता है। पूछता हूँ जैनेंद्र से बनारस की गंगा के बारे में। उम्मीद थी कि धीर-प्रशांत गंगा का एक आकर्षक गति-चित्र उनकी जुबान से उतरेगा और मुझे बाँध लेगा, सोचने के लिए मजबूर करेगा। दो टूक बात करते हैं जैनेंद्र। अस्सी घाट प्रायः जाना होता था पर इसलिए नहीं कि गंगा बहुत आकर्षक लगती थी। कहते हैं कि पार जाने के लिए उतर पड़े। थोड़ा आगे बढ़े। मँझधार आ गयी। थकने लगे। अभी तो दूसरा पाट दूर था। वहाँ और कोई सहारा भी न था। हिम्मत हारने पर कुछ भी हाथ आने वाला

नही था। और थकान लगी। यह भी सोच लिया कि थकान तो मन की होती है। मन ने ही कहा था कि मँझधार कोई अवलंब नही है। निराशा दूर हुई। उस पार जा लगे।

माँ अतरौली में थीं। उनके लिए जिम्मेदारी बहुत भारी पड़ रही थी। अतरौली में आय का कोई साधन नहीं था। भाई का मार्ग अलग था जिससे उन्हें कोई परेशानी न थी। त्याग का मार्ग बुरा नही होता। स्पृही तो लाखों-करोड़ों हैं पर त्यागी तो कोई बिरला ही होता है। अपने भाई का सत्पथ उन्हें बहुत प्रिय लगता था।

बहुत झीना-झीना स्मरण है जैनेंद्र को।

अतरौली वाले घर में अरहर की दाल तैयार होती थी। चक्किया चलती थीं। माँ और मामी के साथ अन्य लोग भी दाल दलते थे। यह व्यवसाय घाटा दे गया। इक्के चलवाने का व्यवसाय भी नही चल सका। ऐसे में व्यक्ति की हिम्मत की परीक्षा होती है। जैनेंद्र की माँ इस इम्तहान में अव्वल उत्तीर्ण होती थीं। जैनेंद्र में फाकामस्ती, लापरवाही थी सो माँ बनारस में रहने का खर्च सीधे बेटे को न भेज कर किसी और को भेजती थी। माँ सारे परिवार के साथ वे बबई पहुँच गयी थीं। वहाँ उन्होंने अपनी कार्यकुशलता, व्यावहारिकता और समाज-सेवा के कार्यों में दक्षता प्राप्त कर ली।

बनारस मे पढ़ाई का व्यय तीस रूपये माहवार भेजा जाता था। वह भी साथी दीपचंद के माध्यम से। पाँच रूपये फीस के निकल जाते थे। बाकी पचीस से सारा खर्च चलता था। ग्यारहवीं उत्तीर्ण करके बारहवीं में पहुँचने पर कई घटनाएँ एक साथ घटी। समय था सन् 1920 का। अचानक महाराज तिलक का देहावसान हो गया। राजनीति की अनिश्चितता सभी के सामने थी। संघर्ष का मार्ग लंबा होने पर किसी भी कोम को बड़ी मजबूती से कमर कसनी होती है। आज़ादी बहुत सुलभ न थी। उसके हवन कुड मे आहुतियां दी जा रही थी। तब तो दीवानों को यह भी आभास नहीं रहा होगा कि सैंतालीस में हम मुक्त हो जायेंगे।

तिलक की मृत्यु पर बनारस में एक मीटिंग हुई। जहाँ काशी विद्यापीठ है, वहीं एक हॉस्टल था। तय हुआ कि सभा वही की जाय। गण्यमान्य लोगों के भाषण हुए। सारा उत्साह बटोरकर जैनेंद्र भी कुछ बोले। आचार्य कृपलानी के साथ ही अनेक छात्रों ने शिक्षा का बहिष्कार किया। ये सब अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सीधा मैदान में आ गये।

सभी की देखादेखी जैनेंद्र के मन में असहयोग आंदोलन में शामिल होने की इच्छा जागी। कई समस्याएँ थीं। माँ को पता नहीं। मामा से पूछा नहीं। परिवार में रहते हुए अकेले कैसे निर्णय लिया जा सकता है। पढ़ाई छोड़कर असहयोग में शामिल हों - कितना बड़ा निश्चय है? पर यह जो असहयोगियों की पूरी फौज ही तैयार हो गयी है, इसमे कहीं न कहीं संकल्प-शक्ति अवश्य है। साथ में यह भी कि चिनगारी बुझने वाली नही है। इसे ज्वाला बनते देर नहीं लगेगी।

अनुमति के लिए मामा महात्मा भगवानदीन को पत्र लिखा गया। लौटती डाक से उत्तर मिला – 'पत्र लिखने से पहले ही तुम्हें पढ़ाई छोड़कर असहयोग आंदोलन में कूद पडना चाहिए था।' मामा भगवानदीन जी के पत्र ने न केवल आश्वस्त किया बल्कि जैनेंद्र को ललकारा भी। इस ललकार से जैनेंद्र ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़ दी। असहयोग के फलस्वरूप स्थान-स्थान पर गांधी आश्रमों की स्थापना होने लगी थी। सन् 1920 की ही तो बात है।

बहुत आगे बढ़कर कोई भी नया काम करने से जैनेंद्र घबराते थे। पर अब ऐसे काम चलने वाला नहीं था। मन में उमंग थी। हिम्मत को साथ देना पड़ेगा। दब्बूपन से काम नहीं बनने का।

अबूझ रास्ते पर चल पड़ने के लिए झेंप छोड़नी पड़ेगी ।-चीखने, चिल्लाने से कुछ नहीं बनेगा। मंजिल पाने के लिए आगे जाना ही होगा। युवावस्था का जोश जैनेंद्र को नागपुर ले गया। सन् 1923 में वहाँ झंडा-सत्याग्रह हुआ था। सरकारी हुक्म था कि सिविल लाइन में झंडा नहीं जा सकता। सत्याग्रह का यही मुख्य कारण था। सरकारी शक्तियों ने सत्याग्रहियों को गिरफ्तार किया। अपनी गिरफ्तारी से जैनेंद्र विचलित नही हुए। यह एक नया अनुभव था उनके लिए। राजद्रोह के चार्ज के बारे में सुना जरूर था पर उससे पाला अब पड़ा। अपना राज चाहने वालों पर ही बर्तानियां हुकूमत राजद्रोह और खिलाफत का चार्ज लगा रही थी। उद्‌देश्य बडा होने पर तकलीफें साहस देती हैं। छोटी-छोटी शक्तियाँ मिलजुल कर बड़ी बन रही थीं। बड़ी बनकर एक और बड़ी शक्ति से लोहा लेने के लिए तैयार थीं।

जैनेंद्र का काम संवाददाता का था। जैसे दूत अबध्य होता है वैसे संवाददाता को भी छूट मिलती है। हुकूमत की आँखें अहंकार में मुँद जाती हैं। उसके सोच की इमारत बनावटी शक्ति की नीव पर खड़ी होती है। जन-बल की आँधी ऐसी इमारत सह नहीं पाती। अब तो भारत की जनता अपना मानापमान पहचानने लगी थी। जैनेंद्र की गिरफ्तारी के समय गोवन कलक्टर थे। बांबे क्रानिकल के राघवन से भेंट कलक्टर के यहाँ ही हुई। नाम सुन रखा था पर परिचय नहीं था। राघवन ने कलक्टर से पूछा - 'इन्हें आप जानते हैं ? साथ ही यह भी कि यह तो रोज मिलते ही रहते हैं। कलक्टर की इच्छा थी कि कोई भी खबर प्रेस को देते समय जैनेंद्र उसे साहब के दफ्तर में दिखा लें। इन्होंने साफ इनकार कर दिया। 'यह सुविधाजनक नही होगा' जैसा वाक्य भी कलक्टर को सदा के लिए चिढ़ा गया। राघवन के मुँह से निकल गया कि 'यह महात्मा भगवानदीन के भांजे हैं।' कलक्टर का मन छनका। उसे दाल में कुछ काला नजर आया। उस समय स्लेनी नाम के सज्जन (सज्जन ही कहना चाहिए) वहाँ सिटी मजिस्ट्रेट के पद पर तैनात थे। उनका सम्मन आ गया कि जैनेंद्र को कोर्ट में हाजिर होना है ठीक दस बजे। सम्मन पर विशेष रूप से उन्होंने लिखा - 'दस बजे आने की सुविधा नहीं होगी। साढ़े तीन बजे आ पाऊँगा।' नियत समय पर मजिस्ट्रेट की कोर्ट में पहुँच गये। मजिस्ट्रेट स्लेनी ने इन्हें कुर्सी पर बैठने के लिए कहा। अपने बचाव के लिए जैनेंद्र ने मजिस्ट्रेट से कुछ कहा नहीं। लक्ष्य यह था भी नहीं। उन दिनों 'घर बार छोड़ करके जाएँगे जेलखाना' गीत बहुत प्रसिद्ध था और शान के साथ गाया जाता था। मर्दानों की प्रतिज्ञा थी कि बिना स्वराज्य के हम पीछे नहीं हटेंगे। मजिस्ट्रेट ने कुर्सी देकर आवभगत चाहे जो की हो पर जैनेंद्र को नागपुर सेण्ट्रल जेल भेज दिया गया। उस समय कैदी जैनेंद्र की उम्र थी साढ़े सत्तरह साल।

इन बातों की रील अतीत के अटेरन में लिपट चुकी है। पीछे की ओर बड़े ध्यान से देखते हैं जैनेंद्र। उन्हें याद आता है जेल का सुपरिटेंडेंट। महाराष्ट्र के ब्राह्मण। उसने समझा कि कोई खतरनाक कैदी जेल में आया है, उसकी इस समझ का आधार क्या था कहा नहीं जा सकता। कद-काठी और रूप-रंग में भी ऐसी बात नहीं दीखती थी। पर अफसर तो अफसर होता है। उसका तर्क अकाट्य होता है उसके अनुसार। अपनी समझ के ही आधार पर जेल अधिकारी ने इन्हें तनहाई वाले जेल में भेज दिया। बहुत तंग कोठरी। स्वयं से बात करना, स्वयं के साथ जीना और स्वयं में ही सिमटे रहना कितना कठिन होता होगा। सजा कोई भी हो अपनी प्रकृति में वह त्रासद होती ही है।

नागपुर केंद्रीय कारागार में जैनेंद्र को तमाम वालंटियर्स मिले। रविशंकर महाराज थे, विनोबा थे और कई अन्य प्रसिद्ध नेता थे। बाद में पुलिस से ही पता चला था कि जैनेंद्र का नाम दंगाइयों में था। पटुवा कूटना, रस्सी बुनना मुख्य काम था जेल में। पहले से ही काम निश्चित कर दिया जाता था। समय दे देते थे अधिकारी। उतने समय में ही वह काम पूरा करना पडता था। इस परिणाम के पीछे भय उतना नहीं था जितनी कार्यशीलता थी। कभी-कभी पुलिस की त्योरियाँ चढती भी थीं पर ऐसा बहुत कम देखा जाता था।

पहनने के लिए जेल का ही कपड़ा मिलता था। कैदी बाकायदा कैदी लगता था। ज्वार की रोटी खाने को मिलती थी। दाल-साग बहुत घटिया स्तर का। दाल में तो इतना पानी होता था कि दाल मुश्किल से कहीं दीख जाती थी। मोटी-मोटी लाल मिर्ची से छौंक लगता था। इतनी कड़वी दाल मिलती थी कि खाई नहीं जाती थी।

कुछ कैदी नागपुर जेल से होशंगाबाद जेल भेजे गये। यहाँ भी जैनेंद्र को डंडा बेडी लगा दी गयी। पैर में कड़ा। दोनों पैरों में सांकल। यहाँ भगवानदीन, जमनालाल बजाज आदि का साथ था। बाहर की पंखहीन अफवाहें उड़कर जेल की मजबूत दीवार भेद कर अंदर पहुँच जाती थीं। अखबार न देकर जेल अधिकारी सोचते थे कि कैदियों को बाहर की दुनिया का पता नहीं चलेगा। होशंगाबाद जेल में ज्यादा दिन नहीं रहे।

रिहाई के बाद एक गुजराती सज्जन ने अपने घर भोजन के लिए बुलाया। भोजन के समय अचार परोसा गया कागज के एक टुकडे पर। जैनेंद्र ने उसे ध्यान से देखा। तब तक पास बैठे व्यक्ति ने कहा 'अरे इस कागज के टुकड़े पर तो तुम्हारा नाम है। आश्चर्य हुआ। काग़ज़ पर गुजराती में कुछ छपा था। जैनेंद्र को याद है। काठियावाड के एक बड़े नेता थे अमृतलाल सेठ। उन्होंने देशी राज्य का आंदोलन चलाया था। किसी साप्ताहिक पत्र में उन्होंने ही रपट लिखी थी। उसी रपट में जैनेंद्र और सुभद्राकुमारी चौहान का नाम था। पत्र गुजराती का था। जेल तीन बार गये जैनेंद्र। प्रेमचंद को जेल जाने का अवसर नहीं मिला। कहते थे वह कि जो काम उनसे नहीं हो सका उसे शिवरानी (प्रेमचंद की पत्नी) ने पूरा किया। जैनेंद्र के प्रारंभिक जीवन की सक्रियता देखकर आश्चर्य होता है।

अब तक जैनेंद्र का परिचय प्रेमचंद से हो चुका था। सन् 1926 ई. के आसपास की बात होगी। अवारी नाम के एक इंजीनियर थे। अखबार में जैनेंद्र को पढ़ने को मिला कि अवारी ने सशस्त्र सत्याग्रह किया है, खबर पढ़कर बहुत प्रसन्न हुए। मन में बहुत कुछ उमड़-घुमड़ रहा था। विचारों में खोये जैनेंद्र ने एक लेख लिखा - 'देश जाग उठा' का मूल स्रोत अवारी का आंदोलन था। किसी रचनाकार को, मौलिक चिंतन को कहाँ से क्या प्रेरणा मिल जायेगी, कहा नहीं जा सकता। चतुरसेन शास्त्री ने इस पर अपना नोट लगाकर माखनलाल चतुर्वेदी को दिया। उस समय तक शास्त्री जी लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। चतुर्वेदी जी चतुरसेन के यहाँ टिके थे। वहीं जैनेंद्र से उनकी भेंट हुई थी। जैनेंद्र की प्रारंभिक रचनाओं में 'देवी अहिंसे' का नाम भी आता है। इसमें भी अवारी का जिक्र आया है।

लेखन के प्रति अब जैनेंद्र सजग होने लगे थे। इधर-उधर से रचनाओं की फरमाइश भी होने लगी थी। सन् 1924 ई. में दिल्ली में यूनिटी कांफ्रेंस हुई थी। यहाँ का माहौल दूषित हो चुका था। अचानक दंगे भड़के। सब से ज्यादा मारकाट हुई सदर बाजार में। वहीं गली जमादार में जैनेंद्र रहते थे। थोड़ी ही दूर पर पहाड़ी धीरज में किराये के मकान में बड़ी बहन सुभद्रा रहती थीं। गली

जमादार में थोड़ी जगह खाली पड़ी थी। उजाड़ ही कहिए उसे। पत्थरों की बौछार से वहाँ घूर जैसा बन गया था। घर में सोने की उतनी जगह नहीं थी। खाली जगह में खटोला डालकर जैनेंद्र सोते थे।

रचना ऐसे होती है। वह दिमाग में उतरती है अचानक। एक रोज खटोले पर लेटे हुए, जैनेंद्र आसमान देख रहे थे। नेपोलियन की याद आयी। विचारों का समवेत 'स्पर्धा' कहानी का रूप पा गया। अब रचना और जीवन का साथ हो गया था, जहाँ रहते दोनों साथ रहते। बिना एक के दूसरा संभव भी तो नहीं था। अपने पड़ोस में भडके दंगे का कारण बतलाते हैं जैनेंद्र। बाडा हिंदूराव में मुसलमान रहते थे। कस्साब पुरा जाने का रास्ता पहाडी धीरज होकर जाता था। लोटन चौधरी ने कत्ल के लिए जाती हुई गायें छीन ली थी कसाई से। यही झगडे का कारण था। छुरेबाजी, लाठी प्रहार, पत्थर, कांच और जाने क्या-क्या फायरिंग कम हुई पर सारा वातावरण आतंक और भय से भर गया। उस समय हिंसा के अजगर के मुँह से बचना कठिन लगने लगा था। उन्हीं दिनों गांधी जी ने इक्कीस दिनों वाला लंबा उपवास किया था। इस विषाक्त वातावरण को नार्मल बनाने के लिए यूनिटी कांफ्रेंस हुई थी। गांधी जी थे वहाँ। डॉ. भगवानदास, सरोजनी नायडू और पं. सुंदरलाल भी थे। इस यूनिटी अभियान का तात्कालिक लाभ यह हुआ था कि वालंटियर्स ने बाढ़ में बहते हुए लोगों के प्राण बचाये थे। द्वेष, घृणा का कूड़ाकर्कट तेज बहाव में बह गया। दैवी शक्तियों का प्रकोप मनुष्यों में एका का भाव भर देता है। परस्परता से, सद्भाव से ज़िंदगी का कल्मष घुल जाता है, यह प्रेमानुभूति भी प्रकृति की देन है। जाने क्यों इसे हम भुला देते हैं।

बेकारी की अवधि काटे नहीं कटती है। कहीं भय, कहीं पीडा और कहीं हीनभावना रास्ता रोके हैं। यद्यपि गांधी की कार्य शैली को पसंद करते हैं जैनेंद्र पर अब धीरे-धीरे कांग्रेस में काम करने की सक्रियता सिमटने लगी थी। उन्हीं दिनों अयोध्याप्रसाद गोयलीय जैनियों का प्रचार करते थे। उनसे थोड़ा बहुत परिचय था। जैन संगठन सभा उन्होंने ही बनायी थी। धार्मिक मान्यताओं के प्रति जैनेंद्र के मन में कोई आग्रह नहीं था। माँ कट्टर जैन थी। मामा स्वतंत्र विचारों के थे इसीलिए उन्हें हस्तिनापुर आश्रम छोड़ना पडा था।

बेकारी की हालत में नौकरी खोजते हुए जैनेंद्र कलकत्ते पहुँचे। वहां से बनारसीदास चतुर्वेदी के संपादन में 'विशाल भारत' निकलता था। उस समय का प्रतिष्ठित पत्र था। हुआ यह कि चतुर्वेदी जी ने पत्र लिख कर इन्हें बुलाया था। कोई कारण रहा होगा। ये कुछ बाद में पहुँचे। जिस नौकरी के लिए इन्हें बुलाया गया था, वह ब्रजमोहन गुप्त को दे दी गयी थी। जैनेंद्र तो समय से वहाँ पहुंचे ही नहीं। पुनः भटकाव का रास्ता। प्रतीत होता था भटकाव जीवन का पर्याय ही बन गया है।

रामचद्र शर्मा का 'महारथी' प्रेस था। बाद में तो इसी नाम से एक पत्र भी निकला। प्रेस में डिस्पैच क्लर्क की नौकरी पक्की हुई। बीच में ट्रेनिंग के लिए सात रोज आने की ताकीद पायी। नौकरी सत्तर रुपये मासिक की थी। किसी प्रकार पहला महीना बीता। दीवाली आयी। तश्तरी में खील-बताशे देते हुए मालिक ने कहा था, कि 'यह तो सेवा का काम है।' सत्तर में बीस 'महारथी' को दे दें। जैनेंद्र ने कहा बीस ही क्यों पूरा भी दिया जा सकता है। 'महारथी' मासिक था। रामचंद्र शर्मा स्काउट थे। पत्र कोई विशेष नहीं था - ऐसा जैनेंद्र मानते हैं। कभी 'चांद' के एडीटर नंदकिशोर तिवारी भी 'महारथी' के संपादक हुआ करते थे। जैनेंद्र जिस मारवाड़ी पुस्तकालय में बैठते थे उसमें हिंदी प्रचारिणी सभा' होती थी। इन्हें लिखने का विशेष चाव वहीं से बढा था। सभा

में इनका जाना हुआ करता था। इसी सभा में एक बार अपनी कहानी 'खोज' सुनायी थी। वहाँ चंद्रशेखर शास्त्री नाम के साहित्यिक सज्जन बैठे थे। कहानी के अंत में आया 'ये ऊँचे-ऊँचे दिग्गज पेड़'- संकेत उन्हीं की ओर था। चतुरसेन शास्त्री कहाँ चूकने वाले थे। व्यंग्य का कोई वाण कान तक तान कर छोड़ दिया।

स्मृतियों के पन्ने पलट रहे हैं। सभी पर कुछ न कुछ लिखा है।

कोरा पन्ना शायद ही कोई हो। होगा भी तो उसका भी कोई अर्थ होगा। मौन की वाणी भी तो अर्थवती होती है। 'महारथी' से बावन रूपये का चेक आया। एक महीने का वेतन था यह। बीस तो दानखाते में चले ही गये थे। वह चेक खाते में जमा तो कर दिया गया पर पैसा लेकर लेखक के पास नहीं आ सका। समय की यह भी चाल है। टेढा हो जाता है। तब तो और टेढा चलता है। आप उससे सीधे चलने की उम्मीद रखते हों। 'महारथी' की नौकरी छोड़ दी। मन में आया कि इस पत्र के लिए कुछ लिखा जाय। एक रचना संपादक महोदय बहुत दिनों तक रखे रहे, छापा ही नहीं, दफ्तर जाकर न छपने का कारण पूछा। पता चला कि संपादक संशोधित रचना छापना चाहते थे। जैनेंद्र का उत्तर था "मैं तो इतना शुद्ध हूँ नहीं। कैसे छपेगी"। 'दूसरी रचना दो तो यह ले जा सकते हो' - संपादक का उत्तर था। ले आये थे वह रचना। उसके बाद 'महारथी' को 'स्पर्धा' कहानी दी थी।

चलते-चलाते फतेहपुरी में ऋषभ चरण चैन मिल गये, जैनेंद्र से कहने लगे - 'तुम्हारी जेब फूली है'। जैनेंद्र ने बतलाया - 'कहानी लिखी है' बात आगे बढने पर ऋषभ चरण जैन से कहा - 'मुझे पाँच रुपये की जरूरत है। क्या 'महारथी' से माँगूं ?' 'माँग सकते हो' ऋषभ चरण ने कहा। संपादक ने जैनेंद्र से कहानी का तकाज़ा किया। इन्होंने कहा - 'लाये तो हैं पर पाँच रुपये चाहिए।' रुपये मिले नहीं। कहानी लेकर वापस आ गये। यही कहानी (स्पर्धा) प्रेमचंद को भेजी गयी। जैनेंद्र के जीवन में सन् 1929 विशेष महत्त्व का वर्ष है। यहाँ से उनका व्यक्ति और लेखक एक नये मोड़ की ओर चलते हैं। 'परख' उपन्यास का लेखन और जैनेंद्र का विवाह इसी वर्ष संपन्न की देन हैं। 'परख' हिंदी प्रचारणी सभा में सुनायी जा चुकी थी। उसकी नायिका की चर्चा चली तो जैनेंद्र ने माना, कि 'हाँ वह उपन्यास एक 'अफेयर' पर आधारित है।' वह संबंध तो हुआ ही नहीं। लेखक ने 'परख' लिखकर साहित्य का भार हल्का किया। मुजफ्फरपुर के निवासी थे उग्रसेन जैन। महात्मा जी से उनकी घनिष्ठता थी। अपने साथी विश्वंभर सहाय को साथ लेकर जैनेंद्र की माँ के पास उग्रसेन जैन गये थे। इन असहयोग वालों का अपना एक ग्रुप था। विश्वंभर सहाय की लड़की का विवाह जैनेंद्र के साथ करने के लिए उग्रसेन ने माँ के सामने प्रस्ताव रखा। यह भी कहा, कि 'तुम करो नहीं तो मैं अपनी बेटी की शादी करूँगा।' उस समय पहाडी धीरज पर ही रहना होता था। माँ ने रिश्ता मान लिया। उसने बेटे से कहा कि 'जाकर लडकी देख आओ'। जैनेंद्र ने मना कर दिया। वे सन् 1928 के दिसंबर में कलकत्ता कांग्रेस से लौटे थे। तभी शादी का कार्यक्रम बना। माँ गाँव जाकर होने वाली बहू देख आयीं। शादी से पूर्व महात्मा जी भी विश्वंभर सहाय के यहाँ हो आये थे। मुजफ्फर नगर में बाद में विश्वंभर सहाय ने प्रेस लगा दिया था।

अनोखा विवाह हुआ था जैनेंद्र का।

बरातियों की संख्या कुल सात की थी। मामा महात्मा भगवानदीन, चतुरसेन शास्त्री, पं सुंदरलाल रनजीत प्रसाद जैन, माँ की सहेली का लड़का मुलतान और दूल्हा स्वयं जैनेंद्र, एक कोई नाम और था। धमड़म-धमड़म, झैय्यम-झैय्यम कुछ नहीं हुआ। तीसरे दर्जे के सात

ट्रेन-टिकट खरीदे गये। सिर पर पाग नहीं, नये कपडे नहीं। उस समय की यह सादगी चर्चा का विषय बनी। यहाँ तो सचमुच सादगी व्यवहार में उतर आयी थी। शादी के समय पंडित नहीं, हवन नहीं, अग्नि नहीं। इतना ही नहीं बहू के लिए कोई जेवर नहीं, कपड़े नहीं। महात्मा जी ने कहा था कि जब जैनेंद्र कमाएगा तभी बहू जेवर पहनेगी। हिंदुस्तान का नक्शा जमीन पर बनाया गया था। उसी की वर अधू ने तीन बार प्रदक्षिणा की। शादी हो गयी, कुल खर्च साढ़े सत्तरह रुपये। ऐसी शादी सुनग,र मुझे आश्चर्य होता है। जैनेंद्र कहते हैं, मुझे तो कोई मलाल - शिकायत थी नहीं। माँ और मामा जैसे चाहते थे, हो गया। इस चाहने से मेरा चाहना अलग नहीं था। पंडित सुंदरलाल ने बहू को आशीष दी - 'मुझे तो सर्वाधिक खुशी उस रोज होगी जब जैनेंद्र फांसी पर चढ़ेगा। निश्चय ही शादी के समय का यह आशीर्वाद बहू को प्रिय न लगा होगा। शादी के डेढ महीने बाद गौना हुआ। पत्नी (भगवती) के साथ जैनेंद्र ट्रेन से दिल्ली आ रहे थे। स्टेशन से पहले ट्रेन से कोई आदमी कट गया। अधमरे व्यक्ति को उठाकर लोगों ने गाड़ी में रखा, वह व्यक्ति चिल्लाया - 'अरे मेरी टाँग'। टाँग कट गयी थी। लोगों ने उसकी टाँग उठाकर उसे दी। एक करूणापूर्ण दृश्य। बाद में शायद जैनेंद्र ने इस घटना को अपनी किसी कहानी में उतारा था।

समय बदला। जैनेंद्र ने अपनी बड़ी बेटी कुसुम की शादी बड़ी धूमधाम से की थी। लालबहादुर शास्त्री, जगजीवनराम और राधाकृष्णन आदि शामिल हुए थे। चतुरसेन शास्त्री ने व्यंग्य में लिखा था, कि 'उपहार देने की हिम्मत ही नहीं पड़ती थी।' ईश्वर, स्त्री और पैसा - इन तीनों बिंदुओं पर जैनेंद्र ने पराजय स्वीकार की थी। जो मत आरोपित थे, वे जीवन प्रवाह की सभी स्वीकृति में बह गए। गौने के बाद प्रायः दिल्ली लौट रहे जैनेंद्र और आंदोलनों में भाग लेते रहे। धीरे-धीरे यह विश्वास दृढ़ होता रहा कि राजनीति बातें ज्यादा करती है, काम कम इसीलिए पार्टीवाद भी जनमता है। कर्म में बात करने का मौका ही नहीं मिलता। लक्ष्य इसलिए एक ही रह जाता है। वहाँ कोई वर्ग, जाति और वर्ण नहीं बच पाता है।

कलकत्ता कांग्रेस में जैनेंद्र माखनलाल चतुर्वेदी से मिले। कहने लगे चतुर्वेदी जी - 'क्या हुआ? तुम्हें दिखाकर लोगों से कहता था कि कुछ बुद्धू लड़कों में कोई संभावना नहीं होती। तुम तो लेखक निकले।' जैनेंद्र कहते हैं, कि 'यह वाक्य मेरे लिए उत्साहवर्धक ही नहीं था बल्कि आशीर्वाद भी था।' 'फांसी' नाम का कहानी संकलन लाहौर कांग्रेस के समय हाथों-हाथ बिक गया। वहाँ 'फांसी' संकलन क्रांतिकारियों के देखने में आया। नाम बढ गया। वात्स्यायन आदि उसी से संपर्क में आये। 'त्यागभूमि' को भी प्रसिद्धि कम नहीं मिली। इन्हीं दिनों 'परख' को हिंदुस्तानी एकेडेमी ने पुरस्कृत किया था। इस पुस्तक पर चतुरसेन शास्त्री की प्रतिक्रिया थी, कि 'जैनेंद्र छीकते भी हैं तो कहानी बन जाती है।'

आंदोलन एवं लेखन साथ-साथ चल रहे थे। सन् 1930 में बवाना गांव में भाषण देते हुए जैनेंद्र को गिरफ्तार कर लिया गया था। भाषण का विषय था 'जागरण'। सीधे-सीधे अंग्रेजी की खिलाफत थी। हथकड़ी नहीं डाली गयी। जेल में ही 'परख' की प्रति पहुँचायी गयी थी। माँ और उनके आश्रम की लडकियों ने साथ दिया। उनमें से एकाध उस समय पकड़ी भी गयी थी। पर माँ तो माँ होती है। उसे बेटे का जेल जाना अच्छा नहीं लगा। बहू को लेकर वे जेल जा पहुँची। बहू की आयु उस समय केवल सत्तरह वर्ष थी। कनस्तर भर कर लड्डू जेल ले गयी थीं। वहाँ बाँटे गये थे। बहू नयी आयी थी। क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करती। हाँ, उसे यह जेल यात्रा अच्छी नहीं लगी होगी - ऐसा अनुमान जैनेंद्र लगाते हैं।

एक बार होली अंक (आज) में उग्र ने गधे की खाल बिछायी और उस पर जैनेंद्र को बैठाया। नीचे नाम लिखा - महात्मा जैनेंद्र कुमार। कलकत्ते में जैनेंद्र आपने आश्रम के साथी नृपेंद्र के साथ जा रहे थे। रास्ते में उग्र से भेंट हो गयी। नृपेंद्र ने कहा - 'मतवाला' के संपादक हैं। 'मतवाला' में काम करने वाले एक व्यक्ति ने चिट्ठी दी थी। क्या नाम था, किसके नाम चिट्ठी थी, पता नहीं। दफ्तर जाकर जैनेंद्र ने कहा - 'आपके नाम खत था, भूल आया।' दिमाग खराब है। तुम सब कुछ भूल ही आये हो तो आये किस लिए ? कहानी सुनाना चाहता हूँ। चलो ऊपर सुनते हैं। 'फांसी' कहानी सुनायी तो उग्र बोले - 'बिना आलोचक की परवाह किए लिखते जाओ। अजमेर से हरिभाऊ उपाध्याय 'त्यागभूमि' पत्र निकालते थे। पहली बार 'फांसी' उसी में छपी थी। प्रेमचंद ने बधाई भेजी थी। उग्र के संपादकत्व में 'अपना अपना भाग्य' छपी थी लेखकद्वय के नाम से। कहते हैं जैनेंद्र, कि 'ऋषभ को ही कहानी दी थी मैंने। कहानी में अभी भी उग्र की भाषा झलक मारती है।

हर रचना के पीछे एक प्रेरणा होती है। इसी प्रेरणा के सहारे रचनाकार एक वितान तानता है। यह वितान लगता तो काल्पनिक है पर उसका ताना-बाना असलियत का ही होता है।

'सुनीता' और 'कल्याणी' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। 'विवर्त' प्रकाशित होने पर तो जैनेंद्र के लेखक गुरू चतुरसेन शास्त्री ने कहा था - 'क्या ऊटपटांग लिखा है ?' उन्हें इस बात का पता था कि प्रेमचंद 'परख' की समीक्षा हंस में लिख चुके हैं।

उडिया की एक कवयित्री थी कुंतला कुमारी। उनका विवाह दिल्ली में हुआ था। जैनेंद्र के घर आती जाती थीं। रोमेंटिक स्वभाव की महिला थीं। डाक्टर थीं कुंतला। पति भी डाक्टर थे, आर्यसमाज के प्रचारक थे। उनके प्रति कुंतला के मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। दिल्ली में आर्य समाजी रीति से विवाह हुआ। अकाल मौत हुई थी कुंतला की केवल तीस की उम्र थी उनकी। यही कुंतला 'कल्याणी' उपन्यास की नायिका है।

'सुनीता' और प्रेमचंद के 'गोदान' का प्रकाशन वर्ष एक ही है सन् 1936 ई। 'सुनीता' के आदर्श को प्रेमचंद ने सराहा था। बोलकर उपन्यास, कहानी लिखाने का क्रम 'सुनीता' से ही शुरू हुआ था। बाद की सारी रचनाएँ इसी प्रक्रिया से गुजरी हैं। इस उपन्यास को तो ऋषभचरण जैन ने अपनी सिने पत्रिका 'चित्रपट' के लिए लिखवाया था। प्रेस का आदमी आता था। रोज़ उपन्यास का अंश लिख ले जाता था। छोटे-मोटे कामों से मिला पैसा खर्च के लिए पर्याप्त नहीं था। माँ के ऊपर परिवार का बोझ था ही। बड़ी ग्लानि होती थी। कभी-कभी तो आत्महत्या करने का मन होता था। यह विचार प्रतिफलित होता, इससे पूर्व ही माँ का ध्यान होने के कारण मन वापस भी हो जाता था। आत्महत्या एक कायरतापूर्ण सोच है। इस सोच के लिए भी जिस हिम्मत और दृढ़ निश्चय की जरूरत होती है, वह यहाँ नहीं थी।

सन् 1950-51 में अपना प्रकाशन 'पूर्वोदय' शुरू किया गया। बड़े बेटे (दिलीप) ने इण्टरमीडिएट से पढ़ाई छोड़ दी थी। बाद में एम. ए., एल.एल. बी. किया। मार्तण्ड उपाध्याय की सलाह पर प्रकाशन की बात सामने आयी थी। दो पुस्तकें छपीं और पैसा खत्म। काफी दिनों के बाद एक अधूरा उपन्यास (सुखदा) दिलीप ने 'धर्मयुग' में छपवाया। यह धारावाहिक छपने के लिए ही लिखा गया था। दिलीप ने ही कुछ नोट्स भी लिए थे। तेरह साल बाद 'सुखदा' का प्रकाशन हुआ था। पत्नी (भगवती) को भी रहता था कि क्या हो। मन में आया कि यह पुस्तक बेच कर पैसा दिलीप को दे दिया जाय। पंद्रह हजार जैनेंद्र चाहते थे। सात-आठ पर बात पट सकती थी। एक मित्र के यहाँ प्रेस का काम देखकर कलकत्ते से दिलीप तीन हजार रुपये लाये और 'सुखदा' प्रेस में

दे दी गयी थी। दिलीप का मन उचट गया। कहा कि लाया हुआ वापस करता हूँ। चार सौ खर्च हो चुका था। जैनेंद्र ने पूरा वापस करवाया। फिल्म के शौक में दिलीप बंबई चले गये। जैनेंद्र के लिए यह असमंजस का समय था। माँ तो सन् 40 से पूर्व ही चल बसी थीं। उन्होंने चलते समय बेटे से कुछ कहा भी नहीं। सोल सेलिंग एजेंसी के लिए सभी तैयार हो गये। नतीजा उलटा आया। जिन्होंने माल उठाया था उनके चेक भुने ही नहीं। दिलीप का काम बंबई में जमा नहीं। उन्हें वापस लाने बंबई गये जैनेंद्र। साथ लेकर वापस आये। प्रकाशन का हाल देखकर दुकान पर बैठने लगे।

जैनेंद्र ने 'सर्वोदय' लेख लिखा था। जहाँ मनुष्य की कमी है, वहाँ मशीन ज्यादा है। सर्वोदय के लिए पूर्वोदय आवश्यक है। पूर्व में मनुष्य ज्यादा हैं इसलिए उदय वहाँ होना चाहिए। 'पूर्वोदय' इस प्रकार सभी के सामने आया। 'दशार्क' उपन्यास दिलीप ने ही शुरू किया था। अधूरा छोड़ कर वे सदैव के लिए चले गये थे। बाद में वह छोटे बेटे (प्रदीप कुमार) द्वारा पूरा और प्रकाशित किया गया। जैनेंद्र की अंतिम कृति है 'दशार्क'। उनके देखने का दृष्टिकोण आम लोगों से भिन्न रहा है। दिल और दिमाग की समांतर शक्तियों में दिल का पलड़ा भारी होना चाहिए जब कि ऐसा हुआ नहीं है। हृदय की कीमत पर दिमाग काम कर रहा है समस्या व्यक्तित्व के विघटन की है। दिल सूख रहा है, दिमाग स्फीत हो रहा है।

'समय और हम', 'समय, समस्या और सिद्धांत' में प्रश्नों से घिरे हैं जैनेंद्र। माकूल जवाब देकर वे बड़ी आसानी से बाहर आ जाते हैं। प्रश्नकर्ताओं के कारण ये ग्रंथ बड़े हो गये हैं। सोच का क्रम जारी रहता है निरंतर। सुधियों की रील एक पुर्ली से निकल कर दूसरी में लिपट रही है। पत्नी और प्रेयसी का विवाद तूल पकड़े है। जैनेंद्र अपनी बात पर अडिग हैं। संस्थाएँ बनायी जा रही हैं। अकादमियाँ पुरस्कार दे रही हैं। 'त्यागपत्र' पर फिल्म बनकर आ गयी है, अज्ञेय ने 'त्यागपत्र' का अनुवाद अंग्रेजी में कर दिया है। यात्रा-वृत्त लिखा जा रहा है। राष्ट्रपति ने 'पद्म भूषण' प्रदान किया है। मानव उपाधियों का ढेर लग गया है। संयोजन और अध्यक्षता के कामों से फुर्सत नहीं मिल रही है। अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के एक लाख रुपये के पुरस्कार को जैनेंद्र ने समिति के कार्यों के लिए वापस कर दिया है। अपने लेखक के संबंध में उठे विवादों को झेल रहे हैं जैनेंद्र निस्संग भाव से। जैसे कुछ हुआ ही न हो।

1986 मैथिलीशरण गुप्त की जन्म शताब्दी का वर्ष था। द्रोणाचार्य कालेज गुड़गाँव में गुप्त जी के काव्य पर बोलने गये थे। बोलने के बाद ही पक्षाघात का आक्रमण हुआ। तुरंत दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में भर्ती कराया गया। शरीर शिथिल हो चला। आधे अंग ने सक्रियता छोड़ दी। मुखर वाणी हमेशा के लिए मौन हो गयी। तीसरे दिन मैंने कागज पर कुछ लिखवाने के लिए उनके हाथ में अपना कलम दिया तो चाव से लिखने लगे। पर बना क्या? लगा कि जैसे कागज पर अपने असंख्य पैरों में स्याही लगाकर कोई गोजर निकल गया हो। लकीरों को काटती हुई लकीरें केंचुए की भाँति कागज पर फैल गयी थीं। यानी घुणाक्षर न्याय भी नहीं हो पाया।

दरियागंज से ओखला चले गये। व्हील चेयर बन गयी। वाणीहीन जैनेंद्र की अशक्तता बढ़ती गयी। भारती नगर में सरकार ने आवास का प्रबंध कर दिया। आयुर्विज्ञान संस्थान के डाक्टर परिवार वालों को दिलासा देते रहे। प्रदीप और विनीता ने सेवा और दौड़-धूप में कोई कसर नहीं उठा

रखी। अस्पताल के प्राइवेट वार्ड में बेड पर पड़े हुए जैनेंद्र को देखता था और देखता था तीमारदारी का संकल्प तो उनका वाक्य बार-बार याद आता था - 'बह मेरा बड़ा ख्याल रखती है ।'

दवा, देखभाल और शुश्रूषा । यह तो रोज का काम हो गया । कोई मिलने आता है तो उसे पहचानने की कोशिश करते हैं । संकेत से आग्रह करते हैं वह कि वह बैठे । आगंतुक के लिए चाय-पानी में देर हुई तो विचलित हो रहे हैं जैनेंद्र । आवाज निकलती है पर आने वाले को वह अर्थहीन लगती है । प्रदीप, विनीता और दूसरे पारिवारिक समझते हैं उसका अर्थ । परिचित व्यक्ति की ओर आँख गडा देते हैं । उसका हाथ पकडकर दबाते हैं । एक असहाय स्थिति उभरती है । माहौल निरूपायता और करूण भावना से भर जाता है । दिनों दिन स्वास्थ्य गिर रहा है । अशक्त जैनेंद्र की जिजीविषा संघर्ष कर रही है । समय थम गया है ।

जैनेंद्र के साहित्य पर विचार-गोष्ठी हुई उन्हीं के आवास पर । काफी लोग आये । विचार-विमर्श हुआ । उन्हें गोष्ठी में बिठाया गया । चुपचाप सारा दृश्य देखते रहे । ज्यादा देर बैठा नहीं गया । बेडरूम में ले जाया गया उन्हें । गोष्ठियों में घंटों बैठे होते थे कभी पर अब तो संभव नहीं है ।

लोग जिंदगी जीते हैं पर जैनेंद्र ने तो साहित्य जिया है, अपना चिंतन जिया है ।

लेखन और चिंतन उनका कर्म था । कर्म ही उनके जीवन का पर्याय था ।

तेइस दिसंबर, 1988 की रात प्रदीप ने बतलाया था, कि 'बाबूजी की तबीयत कुछ खराब है' । किसी को क्या पता कि तैयारी हो रही है जाने की । और चौबीस को सबेरे चार बजे मेला खत्म हो गया । अपनी काल्पनिक मौत पर कई साल पहले जैनेंद्र ने लिखा था - 'और शांति की उसे जरूरत हो आयी थी ।'

चौबीस को प्रातः आवास पर बड़ी भीड थी । उदास चेहरे, डबडबायीं आँखें, माहौल में घुली चुप्पी । अंतिम दर्शन के लिए आने वालों का ताँता लगा था । साहित्यकार, रंगकर्मी, विद्वान, सामान्यजन, पारिवारिक, राजनेता, अफसर सभी आये श्रद्धांजलि अर्पित करने । राष्ट्रपति की ओर से फूलमाला आयी । यदि मौन श्रद्धांजलि के फूल संभव हैं तो ऐसे फूलों की संख्या बहुत ज्यादा थी । साढ़े तीन बजते ही लाश गाडी में अर्थी रखी जाने लगी । मैंने भी कंधा दिया आत्मीयों के बीच से निकल कर लाश गाडी विद्युत शवदाह स्थल की ओर जाने के लिए आगे बढ गयी ।

उसी दिन रात को दस बजे । मैं अपने लिखने की मेज पर बैठा हूँ । प्रदीप के नाम कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ - प्रिय भाई, बाबू जी के दाह संस्कार से लौटे कुछ देर हो गयी है । रात काफी गहरा गयी है , सन्नाटा है । नींद नहीं आ रही है । आप भी अनुमानतः जाग रहे हैं । विनीता जी भी सोई नहीं होंगी । कल की रात तो जागते हुए ही बीती थी । रात साढे दस पर टेलिफोन पर बात हुई थी तो आपने कहा था - 'आज बाबूजी की तबीयत कुछ खराब है पर परेशान होने की बात नहीं है ,' समय की चाल सीधी कहाँ होती है । बाबूजी रचनाकार थे, चिंतक थे और असाधारण प्रतिभा वाले साधारण मानव थे । उनके चिंतन में सामान्य की पक्षधरता थी पर विशिष्ट के विरोधी वे नहीं थे ।

मुझे उनके साथ बैठने का, विचार करने का जो अवसर मिला है उसे प्रकृति की देन ही मानता हूँ । दिसंबर-जनवरी का जाड़ा, दिल्ली का घना कुहरा, कांपती सडकों को हैरान करती गाडियां वाणी विहार से सबेरे-सबेरे दरियागंज पहुँचना बहुत आसान नहीं था । पर वहाँ पहुँच कर देखता कि बाबूजी प्रतीक्षा कर रहे हैं फिर बातों का लंबा सिलसिला . . . विनीता जी गवाह हैं ।

मेरे दिमाग में अतीत की एक नदी बह रही है ।

सीपियां हैं , शैवाल हैं, दोनों तट हैं, प्रवाह है, भँवर है, छोटी-बड़ी मछलियाँ हैं । साथ ही इन मछलियों की ज़िजीविषा है, अनंत जिजीविषा ।

आज इस नदी के मुहाने से वापस आया हूँ । बाबूजी के साथ हमारा वर्तमान अतीत बन गया है । जीवन दो कोष्ठकों के बीच घिरा है । पहला कोष्ठक है जन्म दूसरा है मृत्यु । पहले को बड़ी त्वरा के साथ भेदते हुए जीवन आता है और दूसरे को पार करके आगे बढ़ जाता है । पहले बिंदु पर आह्लाद है, दूसरे पर आंसू हैं । बाबूजी के न रहने पर आपको क्या लिखूँ कितना लिखूँ, समझ में नहीं आता । शब्द छोटे पड़ रहे हैं । ये पंक्तियाँ लिखते हुए लग रहा है, जैनेंद्र जी 'दशार्क' मेरे हाथों में थमाते हुए कह रहे हैं - 'पढ़ना' ।

□

प्रख्यात लेखक जैनेंद्र कुमार के साथ इंदु जैन की अंतरंग बातचीत

मानसिक मुक्ति के अनन्य लेखक

इंदु जैन

इंदु जैन - जैनेंद्र जी बात तो कहीं से भी शुरू कर ली जाये क्योंकि बात तो आप ही की है। और ये बताइये कि आप आजकल लिख क्या रहे हैं ?

जैनेंद्र • लिख तो कुछ भी नहीं रहा हूँ।

- यानी

• यानी क्या, इतना लिखा है वो काफी होना चाहिए और आदमी को कभी तो निजात मिलनी चाहिए लिखने से।

- जैनेंद्र जी तो फिर क्या मैं ये पूछूँ कि आपने लिखना शुरू ही क्यों किया ?

• ये तो मैं भी अपने से पूछता हूँ। शुरू इसलिए किया मैं करता, क्या उसके वगैर। मुझे किसी किस्म की नौकरी नहीं मिल सकती थी, वक्त गुजारा नहीं जा सकता था। खामखाह क्या करता।

- मेरे ख्याल से आप बात को बहुत सरल बना रहे हैं। ये तो हो ही नहीं सकता। आपका मतलब है कि तमाम बेकार जो लोग हैं अगर लिखना शुरू कर दें तो क्या जैनेंद्र बन जाएँगे ?

• नहीं यही तो मुश्किल है। मैं समझता हूँ जितने भी बेकार लोग हैं कुछ न कुछ करने ही लग जाते हैं। मैं एक ऐसा बेकार था जो कुछ करने लायक तो था नहीं और दिमाग चल गया यो ये लिखना दिमागियत की परेशानी की वजह से शुरू कर दिया।

- आपकी पांडुलिपियां देख रही थी तो मुझे बिल्कुल मोटे तौर पर लगा कि आप लिखते तो नहीं रहे, आप तो डिक्टेट ही कराते रहे, ऐसा क्यों ?

• मेरी पहली किताब-उपन्यास-जिसका नाम था "परख"। और कहानियोंका संग्रह जिसका नाम "वातायन" था ये दो रचनाएँ मेरे हाथ की लिखी हुई हैं। उसके बाद जितना भी लिखा गया मजबूरन दूसरों की माँग पर लिख गया। मुझे लिखाया जाता रहा। तो मैं समझता हूँ कि यह लिखाया जाता रहा से ही साबित है कि मुझे लिखने का शौक तो नहीं रहा।

- एक तरह का चैलेंज दे रहे हैं आप मुझे। तो जैनेंद्र जी, मैं आपसे ही पूछूँ कि आपने इतने प्रसिद्ध पात्र रचे क्या आपने उनके साथ अन्याय किया ? क्या वे पात्र अपना व्यक्तित्व न लेकर जैनेंद्र के पात्र बनते चले गये ?

• *नहीं, सच पूछिए तो मैंने अपने साथ न्याय करने में ही, अन्याय किया है तो अपने साथ ही किया है। यानी अपने को नापसंद किया है। पहला उपन्यास है "परख"। सच पूछिए तो परख उसमें* मेरी थी और मेरे विचारों की थी। उसमें जो व्यक्ति है शायद उसका नाम सत्यधन है। उसको विफल बताया गया है और उसके मुकाबले में दूसरा पात्र है जो शायद सफल सिद्ध होता है वो बिल्कुल जैनेंद्र से उल्टा है। यों कहिए कि मैंने अपनी आशाओं का, अपने आदर्शों का, यों कहूँ, प्रतिबिंब न करना चाहा है उनको मूर्त करना चाहा है तो न्याय उसके साथ किया है और उस न्याय करने की प्रक्रिया में मैंने अपने व्यक्तित्व की समीक्षा की है, आलोचना की है।

- मेरे ख्याल में उस दूसरे पात्र का नाम है बिहारी। बिहारी और सत्यधन। आप कहते हैं कि जो नायक है सत्यधन, वो कहीं गलत हो जाता है। पर बिहारी, जो जैनेंद्र से बिल्कुल अलग है, वो कहीं सही हो जाता है। तो ये दुविधा है, जो द्वैत है, संघर्ष है - ये तो आपकी सारी ही रचनाओं का प्राण रहा है।

• बिल्कुल। मैं समझता हूँ कि जो कुछ मैं हूँ उससे मैं असंतुष्ट रहा हूँ। जो कुछ मैं चाहता हूँ उसको मैंने अपनी रचनाओं द्वारा प्रत्यक्ष मूर्त करना चाहा है। प्रक्रिया में स्वभावतः संघर्ष आ गया है। तो ये कहना कि मैंने अन्याय किया है अपने पात्रों के साथ ऐसा नहीं। असल में मैं किसी भी पात्र को नहीं मानता हूँ कि वो आदर्श हो सकता है। आदर्श अंत में तो अशरीर ही है। जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह पात्र के द्वारा नहीं कहता बल्कि पात्रों के परस्पर घात-संघात और संघर्ष से जो मूर्त होता है, मेरा लक्ष्य वही है। इसीलिए मुझे याद आ रहा है कि प्रेमचंद जी से एक बार बात हो रही थी - कुछ दक्षिण से आये हुए लोग उनके पास बैठे थे। उन्होंने शब्द कहा "कैरेक्टराइजेशन"। मैं पूछ बैठा कि "बाबू जी, कैरेक्टराइजेशन क्या है"? कहने लगे, "भाई जैनेंद्र, तुमसे फिर बात होगी, अभी इनसे बात करने दो - - "। यानी ये शब्द मेरी कभी समझ में नहीं आया। यानी करेक्टर्स शायद मैं अपने पात्रों में नहीं देता क्योंकि मैं मानता हूँ कि केरेक्टर अपने आप में कोई चीज़ नहीं होती। एक व्यक्ति किसी के संबंध में शिष्ट दीख सकता है, किसी दूसरे के संबंध में वह अशिष्ट, उद्दंड बन सकता है। क्या केरेक्टर है उसका ? क्या वह शिष्ट है ? क्या वह उद्दड है ?

- लेकिन जैनेंद्र जी आपकी सुनीता अनावृत्त होकर भी शिष्ट रहती है। तो ये केरेक्टर नहीं है उसका ?

• यही तो मैं कहता हूँ कि यह प्रश्न उठता है कि आखिर सुनीता का केरेक्टर- एक जगह तो अनावृत्त पर दूसरी जगह वह पतिवृता रहती है - क्या है ? उसका भेद क्या है ? एक ही जगह जो विरोध मिलते हैं उसका भेद क्या है ?

- आप विरोध क्यों कह रहे हैं ? आपकी रचनाओं में ये विरोध तो मुझे नहीं दिखता। कम से कम इसमें तो कहाँ विरोध दिखता है कि वह पतिवृता भी है और किसी व्यक्ति में केवल यह देखकर कि यह भोग की लालसा के कारण व्याकुल है और उसका शमन हो जाएगा, उसके भीतर जो टेढ़ापन है वह निकल जायेगा, अनावृता है। तो इसमें पतिवृता बनने में बाधा कहाँ है ?

• सच बात तो यह है कि लेखक जैनेंद्र की हैसियत से तो विरोध नहीं ही है लेकिन देखने वालों को तो विरोध दिखेगा। और मैं समझता हूँ कि यदि उसमें किसी प्रकार का अंतर्विरोध दिखे ही नहीं तो पुस्तक की रसमयता कहाँ होगी। अब प्रश्न रहता है वह वस्तु कहाँ है जहाँ देखने वाले के विरोध का समाहार हो जाये। मैं समझता हूँ कि जीवन ही वह तत्त्व है जिसमें अंतर्विरोध समाहित हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, और इस प्रकार जीवन में एक पेराडॉक्स बन जाता है। मैं समझता हूँ कि सत्य जिसको कहते हैं वह सीधी लकीर नहीं है। बल्कि वह पैराडॉक्स है। इसीलिए मेरी रचनाओं में ऐसा अधिकांश हुआ है कि इतिनिश्चित चरित्र नहीं हैं। न कोई तत्त्व-समाधान में कोई इतिदृष्टि प्राप्त होती है। अंत में मेरे उपन्यास कुछ प्रश्न वाचक ही रहते हैं। और वो इस कारण कि मैं स्वयं कहीं भी किसी निर्णीत भाव से टिक नहीं पाया हूँ। मुझे लगता है कि जिज्ञासा है और जिज्ञासा की शांति अंत तक नहीं। इस कारण कुछ उलझन सी रह जाती है मेरी रचनाओं में, कुछ गुत्थी शेष रह जाती है। एक निर्णयात्मक उनके संबंध में समीक्षकों को कुछ कहना मुश्किल हो जाता है क्योंकि मेरी तो निर्णयात्मक स्थिति रही ही नहीं। "दशार्क" हो या "सुनीता"। बीज वही है।

- क्या आपने इसी नजर से उन बातों को भी देखा जो आपके बारे में कही होंगी लोगों ने ? जैसी आपने रचनाएँ लिखीं आपके बारे में बहुत सी अफवाहें होंगी, बदनामियां भी होंगी। उनके बारे में आपकी क्या राय है ?

• मेरी नजर तो यह है कि मेरे संबंध में प्रशंसा हुई है, निंदा हुई है, और दोनों में उत्कट रूप भी प्राप्त किया है। मैं किसी को सही या किसी को गलत नहीं कह सका हूँ। मैं समझता हूँ कि अपनी-अपनी दृष्टि से सभी सही हैं। जो निंदा करता है वह भी गलत क्यों है ? कुछ न कुछ निंदा के योग्य सामग्री उसने मेरी रचनाओं से प्राप्त की होगी।

- आप तो कल्याणी की तरह बातें कर रहे हैं जो कहती हैं कि जो लोग मेरा बारे में कहते रहे हैं वह भी ठीक हैं क्योंकि जो मेरे भीतर पाप है, लेकिन जो मैं अपने आपको पाप-विहीन समझती हूँ - वह भी सही है।

• जो कल्याणी ने कहा है, जो रूप उसका प्रकट हुआ है वह शायद मेरा भी समझा जाये। लेकिन मेरी समझ में एक खास दूरी नहीं है उसका प्रमाण यही है कि मैं अब तक ज्यो का त्यों शेष हूँ। अगर मैं प्रशंसात्मक समीक्षा अथवा कि कटु आलोचना से प्रभावित हुआ होता तो आज शायद मैं इस रूप में शेष न बच जाता। कुछ उस से मेरे लिखने में धार आ जाती, कुछ रिक्तता, कटुता आ जाती। लेकिन मुझे आशा है कि मेरी रचनाओं में वो बात नहीं आई।

- जैनैंद्र जी, ये खिड़की है आपके पीछे। मैंने बहुत बार देखा है कि ये खिडकी खुली है और आप बैठे पढ रहे हैं या लिखवा रहे हैं। इस खिड़की से कितनी दुनिया अंदर आयी आपके कमरे में, आपके साहित्य में ?

• ये खिड़की ही के पार अब जो दीखता है मकान, पहले नहीं था। यहाँ एक नीम का पेड़ हुआ करता था और नीम के पेड़ के बाहर जो दूसरा मकान दीखता है, ये शायद अब नहीं दीखता है, छिप गया है। मेरी एक कहानी है जो पाठ्यक्रम के रूप में भी पढ़ाई गयी है। एक लड़की नये कपड़े धोये

हुए लाती थी और उनको झाड़ कर फटकार कर सुखाया करती थी , अक्सर कौवे आसपास दिखा करते थे । एक बार देखा कि वह रोटी लाई है और उसके टुकड़े ऊपर उछाल रही है और कौवे लपक कर ले जा रहे हैं –

- आपकी जाहनवीबनी।

• तो जाहनवी कहानी बनी । इसके अतिरिक्त कुछ भी आधार नहीं है सिवाय इसके कि वह कुछ उदास सी दिखाई देती थी कभी-कभी । उस पर कल्पना से रचना खड़ी कर दी ।

- जिस तरह पात्रों ने आपको छुआ उसी तरह अन्य साहित्यकारों ने भी छुआ होगा , और आपने अपने समय और बाद के साहित्यकारों को छुआ होगा । ये जो तीन बिंदु हैं कुछ इनके बारे में बताइए ?

• प्रेमचंद को तो मैं पढता ही था, लेकिन पढ़ते समय यह भी लगता था कि कुछ रह गया । कुछ अतिरिक्त ऐसे के बजाय ऐसा होना चहिए था । ऐसा भी मन को लगता । दोस्तॉविस्की पढते समय मुझे मेरा अपनापन खो जाता । यानी मैं उसमें डूब जाता । मेरे भीतर समीक्षा शेष नहीं बचती । रवींद्रनाथ को पढ़ते भी मैं बह जाता । रवींद्र नाथ का "घरे बाई रे" पढ़ा । बहुत प्रभावित हुआ । लेकिन मेरे भीतर जो सोचने वाला था उसको ये भी लगा कि जो बात यहाँ इतने प्रभावशाली ढंग से कही गयी है उसके मूल में जो बात है उससे तो मैं सहमत नहीं हो सकता । उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि घर को सुरक्षित रखना होगा । बाहर जो है वह घर को प्रभावित करना चाहता है, दखल देना चाहता है, हमला करना चाहता है - तो उसको एक प्राचीर में बाँध कर सुरक्षित रखना होगा । जैसे एक बार मैंने कहा कि घर और बाहर का संबंध प्रतिकूलता का रहा तो सामंजस्य कैसे आयेगा जीवन में ?

- आप तो 'त्याग पत्र' लिखने वालों में हैं ।

• त्यागपत्र के बाद नहीं, त्यागपत्र से पहले की बात है, तब तक त्यागपत्र नहीं लिखा गया था । सुनीता जब लिखी गयी तो इस धारणा के आधार पर लिखी गयी । और सुनीता लिखने की कथा भी अजब है, दो किताबें-कहानियाँ और परख-छप गयी थी और मुझे लगा कि मैंने भर पाया । और मुझे क्या करना है ? लेकिन सुनीता इन्होंने लिखवाई

- मैं पूछने ही वाली थी कि पत्नी का आपको साहित्यकार बनाने में कितना योगदान है या कि वे बाधा रही हैं या कि कोई प्रेयसी .

• नहीं बनाने में तो इनका कोई विशेष हाथ नहीं है लेकिन बने रहने देने में सारा योग इन्हीं का है । क्योंकि इन्होंने कभी मुझे टोका-टाका नहीं । अब मैं खाली बैठा हूँ, कुछ लिख रहा हूँ या सोच रहा हूँ तो इसमें कोई दिक्कत नहीं । प्रेमचंद जी ने एक बार कहा कि हमारी बड़ी मुश्किल है । जब हम कभी कोई प्लॉट सोच रहे हों तो ये शिवरानी समझती हैं कि हम फालतू बैठे वक्त गवाँ रहे हैं । वे बार बार टोकती हैं । अब, उन्हें मालूम नहीं कि भई जो कहानी लिखी जायेगी वह पहले सोची भी तो जायेगी । ऐसा इनके साथ कभी नहीं हुआ ।

- लेकिन आपने एक बड़ा विवाद खड़ा कर दिया पत्नी और प्रेयसी वाला। तो आपकी कोई प्रेरणा, कोई प्रेयसी भी रही आपके साहित्य के पीछे ?

• मैं समझता हूँ कि प्रेयसी की बजाय प्रीतम कहा जाये। और प्रीतम मेरे लिए है वो-जो अंतिम है - परम परमेश्वर।

- जैनेंद्र जी आप तो बहुत ऊँची बात कह निकले। मैं तो आपसे बहुत सीधी छोटी सी बात पूछना चाह रही हूँ। आप यह बताइये कि प्रेम और यौन का क्या संबंध है ?

• संबंध बहुत ही घनिष्ठ है। प्रेम, केवल प्रेम आपको अप्सरा में मिल सकता है। इसलिए प्रेम की संपूर्ति यौन द्वारा असंभव है। इस प्रकार का संबंध आपका ईश्वर से हो सकता है क्या ? या ईश्वर के मार्ग पर डालने वाली से हो सकता है ? आपने कभी सुना है कि अप्सरा भी माँ बनी है ? क्योंकि जिस दिन वह माता बन जायेगी वह अप्सरा नहीं रहेगी। प्रेम प्रेयसी को अप्सरा बना जाता है। मैं मानता हूँ कि ये दोनों आयाम जीवन के लिए अत्यंत अनिवार्य हैं। पत्नी जिसके द्वारा संसार का द्वार खुलता है। प्रेयसी - जिसके द्वारा ईश्वर का मार्ग खुल जाये। यानी दोनों दिशाओं से संबद्ध रहना ही संतुष्टि है। इसीलिए मैं मानता हूँ कि पत्नी और प्रेयसी में ईर्ष्या का संबंध गलत है। परस्पर विरोध का संबंध गलत संबंध है। प्रेम का और यौन का विरोध का संबंध-संबंध माना जाये - यह गलत संबंध है।

- और ये दोनों बातें एक साथ चलनी जरूरी हैं ?

• चले बिना जीवन चलेगा नहीं क्योंकि जीवन एक ओर इस संसार को प्रतिक्षण छूता रहता है - जिसको यथार्थ कहते हैं, लेकिन ये यथार्थ जीवन भी असंभव हो जायेगा अगर आदर्श से भी हमारी अभिमुखता समाप्त हो जायेगी। पैर धरती पर टिकेंगे लेकिन यदि सिर आसमान में नहीं उठ सकेगा, सिर भी धरती पर टिका रहेगा, तो जीवन अनर्थ हो जायेगा। इसलिए मैं मानता हूँ कि यौन और प्रेम दोनों परस्पर इस दृष्टि से पूरक हो जाते हैं। लेकिन प्रेम के आग्रह में कहना कि यौन-संबंध तो होना ही है, मैं मानता हूँ कि बहुत खतरनाक बात है। अभी मैं दो रोज पहले एक महिला संस्था से आया। जहाँ कही भी स्त्री संस्था में मुझे जाना पड़ता है एक बात मैं जरूर कहता हूँ कि देखो प्रेम-विवाह से बचना ! क्योंकि प्रेम-विवाह में तुम शादी कर रही हो देवता से, लडका शादी कर रहा होता है अप्सरा से, लेकिन शादी के बाद पता चलता है कि ये इनसान है दोनों आदमी हैं - तो बडी दिक्कत हो जाती है कि जिसे हमने अप्सरा समझा वह स्त्री निकली ! अप्सरा तो जाने कहाँ गयी। इसलिए ये जो कंट्रास्ट हो जाता है यह बहुत कठिन हो जाता है।

- जैनेंद्र जी हम इंसान हैं और इंसान खूब काम करता है, सोचता है बहुत ज्यादा लेकिन आराम भी करता है। उन आराम के क्षणों के बारे में भी कुछ कहें ?

• मैंने अपने लिखने में कभी प्रश्न नही उठाया है। जो लिख दिया, लिख दिया। कह दिया गया - और कह दिया गया वो कहानी हो गयी। एक भी कहानी ऐसी नहीं है जिसको मैंने दुबारा लिखा हो। बहुत सी कहानियाँ ऐसी हैं कि जिनको बोलने के बाद देखा तक नहीं और सीधी प्रेस में चली गईं। यानी मेरे काम में और आराम में इस तरह का कोई बहुत ज्यादा फासला नहीं रहा। सच बात तो

यह है कि आराम मेरे लिए हराम कभी भी नहीं हुआ। यानी, श्रीमती जी से पूछिए, लग आ गयी हैं कि तुम आराम ही आराम करते रहते हो। (हँसी) इतना है कि बहुत वर्षों से मैंने कुछ लिखा नहीं है। लिखने की आवश्यकता अनुभव जरूर होती है। इसलिए नहीं कि मुझे आराम से कोई परेशानी होती है बल्कि यह है कि मन में कुछ उबलता रहता है। जरूरत है कि उससे छुट्टी पा ली जाये। पर इधर लिखने की आदत इतनी छूट गयी है कि ऐसा मालूम होता है कि लिख मैं सकता ही नहीं। कोई हो जिसको मैं बोलूँ और वह लिखे - तो संभव है।

- लेकिन जैनेंद्र जी मैंने देखा है कि आपकी पुत्रवधू है-वो आपका सब काम सँभालती है। छोटे-छोटे बच्चे हैं वो आपको घेरे रहते हैं, - चढते रहते हैं, किताबें छूते रहते हैं। आप काम और आराम में फर्क नहीं मान रहे हैं लेकिन जिंदगी का एक दूसरा पहलू तो है ही न

• नहीं वो तो है। एक तो शतरंज से जी बहलाने की बात है। दूसरे ये जो फर्क है ना। इनके अलावा, मेरे जैसे, मेरे जैसे नहीं, मेरे से उल्टे सीधे ऐसे कुछ संग-साथ मिल जायें तो वो अच्छा है। अब मैं तो बुजुर्ग हो गया। ये छोटे बच्चे हैं, काफी दूरी है। इससे ऐसा मालूम होता है कि अब वैचारिक संबंध का प्रश्न ही नहीं है। अब तो वह निर्विवेक जिसे विवेक की आवश्यकता ही नहीं है - वैसा संबंध हो गया है। अबैंडनमेंट का - तो बच्चों के साथ बड़ा अच्छा लगता है। मुझे इधर लग रहा है कि पीढियों की जो दूरी है इस में ज्यादा सरसता उत्पन्न होने का अवकाश है।

- खाने पीने का शौक है आपको ?

• बहुत शौक तो नहीं है। लेकिन कभी कभी, कभी-कभार हो जाता है कि भई इसमें जरा थोडी खटाई पड जाती (हँसी) अभी तक भी खट्टा स्वाद अच्छा लगता है। लेकिन दही खट्टा नहीं होना चाहिए(हँसी)।

- अच्छा जैनेंद्र जी, जिंदगी ने आपको बहुत दिया - आपने भी बहुत दिया जिंदगी को। कोई अपूर्ण इच्छा रह गई ?

• 1920 में मैं जेल गया था। जेल में काम धंधा तो कुछ रहता नहीं। दिमाग खाली रहता है तो खाली दिमाग कुछ न कुछ किया ही करता है। तरह तरह की बातें दिमाग में उठती थीं - क्या और क्यों ? इससे इतना दिमाग में चक्कर रहता था कि सबेरे एक बार घूमा करते थे तो एक दिन सबेरे आठ बजे से घूमना शुरू किया। दस बज गया। ग्यारह का भी घंटा बज गया। क्या, और ये क्यों ? दिमाग में जैसे कोई रूई धुनी जा रही हो। यकायक मुझे लगा कि अब मैं चल नहीं रहा तैर रहा हूँ। बोझ किसी तरह का दिमाग में नहीं रह गया ऐसा लगा कि शरीर में भी बोझ नहीं रह गया। पृथ्वी से दूर चले जाते हैं तो वेटलेसनेस आ जाती है - लगभग वैसा ही। देहोपरांग सा -देहातीत सा अनुभव हुआ। मैं अपने सेल में गया। खाना रखा था पर मुझे उसका ध्यान नहीं आया अनुभव हुआ कि मैं इतना संपूर्ण हो गया हूँ कि मैं अपने में रह ही नहीं गया। रजिस्टर खोला - उसमे लिखा कि मैं नहीं हूँ, वो है।

- मेरी इच्छा शेष जो रह गयी है कि मैं जो हूँ, वह समाप्त हो जाऊँ। मैं जो नहीं हूँ - वह मेरी स्थिति आ जाये। मृत्यु में आयेगी, पर उसमें तो कोई श्रेय नहीं है। लेकिन जीते - जी वह स्थिति

आ जाए यानी, मेरा कुछ न रह जायें, मैं कुछ न रह जाऊँ - फ़कीर बन जाऊँ। यही है अकिंचनत्व - मेरी अभिलाषा। परिपूर्ण अपरिग्रह, परिपूर्ण अकिंचन्य - जिसमें कि परिपूर्ण निरहंकारिता हो - यह मेरी मात्र इच्छा शेष है। ये मेरे जीवन में सिद्ध हो जायें।

□

अजंता के भित्तिचित्रों में भावव्यंजना

डॉ· स्वर्णलता मिश्र

अजंता के छोटे से गाँव के निवासी पर्यटकों को एक कथा सुनाते हैं । एक समय देवियाँ तथा देवतागण अपने स्वर्गिक जीवन की एकरसता से ऊबकर, पृथ्वी पर जाकर आनंद मनाने की आज्ञा माँगने इंद्र के पास गये । इंद्र ने आज्ञा तो दे दी परंतु उनसे यह कहा कि यदि वह भोर होने से पहले वापस लौटकर नहीं आये तो स्वर्ग के द्वार उनके लिए सदैव के लिए बंद हो जायेंगे । ये देवता पृथ्वी पर आये और इधर-उधर घूमते·हुये विंध्याचल में उस स्थान पर पहुँचे जहाँ बाधोरा नदी सर्पाकार बहती हुई सात झरनों में गिरकर सतकुण्ड में परिवर्तित हो जाती है । यह घाटी इतनी सुंदर थी कि देवताओं न वहीं रहने का निश्चय किया । यहाँ के सौंदर्य तथा अपने आनंद की अनुभूति में वे इतने मग्न हो गये कि इंद्र का आदेश भूल गये, और भोर होने पर स्वर्ग न लौट सके, सदा के लिए पृथ्वी पर ही रह गये । उनके अभिशप्त शरीर अजंता के भित्तिचित्रों तथा पाषाण प्रतिमाओं में बदल गये ।

लोकमानस यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि ये रचनायें मनुष्य की बनाई हुई हैं । उसके अनुसार ये दैविक रचनायें ही नहीं अपितु स्वयं देवशरीर इनमें प्रयुक्त हैं । आधुनिक बुद्धिजीवी मानव के तर्क और बुद्धि के आधार पर यह कथा भले ही पूरी न उतरे परंतु, तत्कालीन मानव का उस पर कितना विश्वास था यह झुठलाया नहीं जा सकता । यह प्राचीन कथा सहज सौंदर्य एवं कोमल कल्पना से ओत-प्रोत है । पुरातन मानव के इन भित्तिचित्रों से संबंधित न जाने कितने कौतूहल एवं जिज्ञासायें रही होंगी जिन्होंने इस कथा को जन्म दिया । यह कथा मात्र कोरी कल्पना नहीं वरन् अजंता की कला की श्रेष्ठता का गूढ़ अर्थ एवं निर्देश अर्थ इसमें छुपा है ।

अजंता गाँव के ग्रामवासियों द्वारा बतायी जाने वाली यह कथा दर्शक को अलौकिक आनंद प्रदान करती है । मानवीय आस्था और लोकजीवन की गाथाओं का अजंता भित्तिचित्रों में विलक्षण समन्वय हुआ है । अजंता भित्तिचित्रों का भारतीय चित्रकला के कीर्तिस्तंभों में अपनी श्रेष्ठता के लिए अद्वितीय स्थान रहा है । इनकी प्रसिद्धि विश्वव्यापी है । जॉनग्रिफिक्स, फर्गयुसन तथा बर्गस जैसे विदेशी कला मर्मज्ञों ने इन्हें कला तीर्थों की संज्ञा देकर इनकी सर्वाधिक अभ्यर्थना की है । मार्ग में प्रकाशित विवरण के अनुसार -

"अजंता वह जादुई शब्द है जिसका प्रयोग हम प्रतीक रूप में अतीत की महानता के लिए करते हैं । "

अजंता शब्द मात्र ही मनोवैज्ञानिक रूप से हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है । अजंता की गुफाओं के निकट ही अजंता गाँव, मराठी में अजिण्ठा स्थित है । संभवतः इस गाँव की स्थिति के कारण ही इन गुफाओं का नाम अजिण्ठा रख दिया गया हो । निर्जन स्थान में ये गुफायें प्राप्त हुई हैं । अतः इनका नाम अ+जनता (जनताविहीन) कर दिया गया । अजंता नाम का विश्लेषण विभिन्न कल्पनाओं, प्रतीकों इत्यादि के आधार पर करने का प्रयास किया गया है । अजंता म्युरलस में इंगरीद ऑल के अनुसार –

अजंता नाम स्वयं अंधकार में चमकते हुये कल्पनायुक्त इन्द्रधनुष के समान है, वर्णों के रंजन का उद्देश्य पत्थरों की रूक्ष त्वचा को सुशोभित करना है ।

लारेंस विनयोन के दृष्टिकोण में अजंता की विषय वस्तु का एक अंश -

"अजंता के कलाकारों ने जो चित्र अंकित किये हैं वे विश्व के लिए एक साकार स्वप्न की भाँति हैं जैसे - चैतन्य पृथ्वी, अंकुरित पौधे, पक्षी, हाथी रक्तावरण मण्डप तथा ओसारे, नगरद्वार तथा पाटन तो हैं ही, इन सबके मध्य, कोमलांगी स्त्री-पुरुष तथा बालकों के जीवन के कुछ चित्र भी हैं, जिनमें से कुछ तो स्वतंत्र, गतिशील एवं ध्यानग्रस्त मुद्राओं में क्रीड़ा करते हुये दिखाये गये हैं और कुछ संपूर्ण सांसारिक जीवन के सुख तथा दुख को अभिव्यक्त करने हेतु बने हैं। परंतु उन सबमें एक ऐसी आत्मा का दिग्दर्शन होता है जो जीवन की वास्तविकता की ओर इंगित करती है।"

कलागत सौंदर्य चिरंतन है। शाश्वत है। वह कभी समाप्त नहीं होता। कीट्स के अनुसार - कला बहती रहती है। सभी कलायें संगीत हो या नृत्य, चित्र हो या शिल्प, स्थापत्य अविराम गति से प्रवाहित रहती है। कलाओं में मानव मन को बहा ले जाने की अपूर्व क्षमता है। कलाओं में मानव मन को भाव लोक में ले जाने की शक्ति है। कलायें मानव मन को भाव लोक में बहाकर ही नहीं ले जाती वरन् वे उसके भावों, वासनाओं का साधारणीकरण उदात्तीकरण भी करती हैं। भारतीय दृष्टिकोण सदैव आध्यात्मिक रहा है। आध्यात्मिकता मानों यहाँ के कण-कण में समाई हुई है। मानव की इसी आध्यात्मिक एवं सौंदर्य की भावना नें विविध रूपों में अभिव्यक्ति पाई है। कला सृजन में वातावरण एवं प्राकृतिक सौंदर्य का विशेष प्रभाव होता है। अजंता कला तीर्थ का प्राकृतिक सौंदर्य अत्यंत मनोहारी एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। श्री यजदानी ने, अजता वर्षा ऋतु मे इसका अत्यंत रोचक शब्द चित्र प्रस्तुत किया है -

"जलस्रोत उत्तम कौतुक उपस्थित करते हैं। बाधोरा नदी की जलराशि चौड़ी होकर और अधिक विस्तृत हो जाती है। जिसकी ग्रीष्म ऋतु में कल्पना भी नहीं की जा सकती है। वृक्षों की विविधता और झाड़ियों के देदीप्यमान पत्तों के गुच्छे तथा फूल प्राकृतिक दृश्यों के आकर्षण में चार चाँद लगा देते हैं। साथ ही संलग्न चित्रों की लंबी पंक्ति आध्यात्मिक विचारों तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती है जैसे कि उसने बौद्ध भिक्षुओं को सैंकडों (1500) वर्ष पूर्व किया था"।

आध्यात्मिकता, जो भारतीय कला एवं सस्कृति की प्रमुख विशेषता है, मानों अजंता के कण-कण में व्याप्त है कुछ ऐसे ही विचार श्री पर्सी ब्राउन के भी हैं -

"अब भी संपूर्ण घाटी मे स्तब्धता (शांति) ध्यानमग्न है, चट्टानों के चेहरे केवल देदीप्यमान सूर्य की चमक से चेतन हो जाते हैं और स्तंभों से युक्त हालों में मात्र फुसफुसाहट और साये (परछाइयाँ) हैं"।

अजंता में प्राप्त शिलालेख, शिल्प, वास्तु एवं भित्तिचित्र, गुफाओं के निर्माण में योगदान देने वाले आश्रयदाताओं, विद्वानों एवं कलाकारों के इतिहास से अवगत कराते हैं। अजंता के कार्यकाल के बारे में विभिन्न मत हैं। इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया के अनुसार -

"अजंता के चैत्य एवं बिहार मंदिर बौद्धकला के 800 वर्षों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। संक्षेप में सम्राट अशोक के राज्यकाल के बाद से भारतीय धार्मिक निष्ठा के बहिष्कार के मध्य तक का समय है। इसमें सर्वाधिक प्राचीन कृतियाँ 200 ई॰ 50 की निर्धारित होती हैं और सर्वाधिक आधुनिक 600 ई॰ तक की हैं।

शुँग, सातवाहन, सतकर्णी, गुप्त, वाकाटक कुषाण आदि विभिन्न राजाश्रयों के संरक्षण में अजंता कला की सर्वोतोन्मुखी उन्नति हुई। गुफा संख्या 16 के शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह गुफा हरिसेन के मंत्री बाराह देव द्वारा 5 वीं शताब्दी के दूसरे चरण में भिक्षुओं को दान में दी गयी थी। अजंता में प्राप्त 29 गुफाओं में, जो अधिकांशतः चित्रावशेषों से पूर्ण थी अब समय के लंबे अंतराल के बाद मात्र एक, दो, सोलहवीं और सत्तरहवीं गुफा में ही चित्र अच्छी अवस्था में प्राप्त होते हैं। अजंता के कलाकारों का यहाँ के भित्तिचित्रों पर कहीं भी नाम अंकित नहीं मिलता। कलाकारों ने निस्पृह भाव से अपनी कला का प्रदर्शन किया है। मानों उनमें व्यक्तिगत रूप से नामं कमाने की कोई इच्छा न थी।

अजंता भित्तिचित्रों को ख्याति के मार्ग पर अग्रसित करने वाली सामग्री में चित्रित हार्दिक एवं मानसिक भाव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अजंता भित्तिचित्रों में जो भाव अभिव्यक्त किये गये हैं उनसे प्राणी मात्र हर समय घिरा रहता है। हर्ष-विषाद, शोक-आनंद, उल्लास, प्रेम-घृणा, संयोग-वियोग, दया-ममता, राग-विराग इत्यादि विभिन्न मानवीय भावों से सारे चित्र सजीव हो उठे हैं। साहित्य में वर्णित -

श्रृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानका:।
बीभत्सद्भुत शांतश्च रसायते नव स्मृताः।

नव भावों एवं संस्कृत अलंकार शास्त्र में जिन संवेगों का वर्णन है, अजता भित्तिचित्रों में वे 9 रस या संवेग स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। कलाकार द्वारा चित्रित भावचित्र, उसकी कल्पना ही नही होता वरन् उसकी अंतर्वृत्ति का भी चित्र होता है। भाव शक्ति थोडी बहुत सबमें होती है। परतु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उस व्यक्ति में होगी जिसकी भाव शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेषरूप से सजग हों। ऐसा व्यक्ति ही भाषा या चित्रकला का भावमय प्रयोग कर सकता है। चित्र में भावाभिव्यक्ति के लिये चित्र का वातावरण, वर्ण-संयोजन, मुख्य आकृति एवं गौण आकृतियों आदि का विशेष महत्व होता है।

कैसी दृष्टि अथवा किस प्रकार की भंगिमा किस प्रकार के भाव व्यक्त करने में सक्षम है, यह अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि भावानुभूति दर्शक की अपनी मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। अजंता भित्तिचित्रों में भावाभिव्यंजना-पद्मपाणी की करुणा, मिथुनाकृतियों में रति, योद्धाओं में क्रोध, बुद्ध की आकृति में निर्वेद, माता और पुत्र में वात्सल्य आदि के रूप में स्पष्ट देखी जा सकती है। अजंता भित्तिचित्रों के समृद्ध भावकोष में एक सशक्तभाव, शोकभाव के रूप में अभिव्यक्त हुआ। यद्यपि अजंता के कलाकार सभी भावों को चित्रित करने में अद्वितीय रहे, लेकिन सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं सहानुभूतिपूर्ण चित्रण उन्होंने शोकभाव का ही किया है। इसका कारण यह भी हो सकता है - बौद्ध धर्म दुखवाद पर आधारित था। बौद्धधर्म में दुखवाद की इस भावना ने कलाकार को शोकभाव के चित्र सृजन के लिए प्रेरित किया होगा।

कलाकार ने भाव की व्यंजना के लिए प्रतीकों, हस्तमुद्राओं, नेत्रों की भंगिमाओं, आसनों, वर्ण, रेखाओं एवं आकार इत्यादि सभी सशक्त माध्यमों का प्रयोग किया है। इस विचार की पुष्टि "बोधसत्व पदमपाणि अवलोकतेश्वर" नामक विश्व प्रसिद्ध चित्र की समालोचना से स्पष्ट हो जायेगी। यह चित्र गुफा नं 1 में दाहिनी ओर की दीवार पर गर्भगृह के बाहर चित्रित है। पद्मपाणि की

आकृति कलाकार ने संयोजन के मध्य में चित्रित की है, केंद्रीयता प्रदान करने के दृष्टिकोण से कलाकार ने बुद्ध की आकृति को संयोजन की अन्य आकृतियों की तुलना में बड़ा बनाया है।

पद्मपाणि की आकृति में किंचित तिर्यक नति के साथ मुख की करुणार्द्र मुद्रा का विलक्षण मेल है। आकृति में व्याकुलता लाने के लिए तथा जीवन गति का संचार करने के लिए हो कलाकार ने त्रिभंगी मुद्रा अंकित की है। ये त्रिभंगी मुद्रा नृत्य से ली गयी है। इस मुद्रा में कलाकार ने बुद्ध की आकृति में शिथिल तथा गिरे हुये अवयब चित्रित किये हैं। बुद्ध का बायाँ हाथ बायें पैर पर टिका हुआ है। गले में बडी माला भी लटकी हुई तथा नीचे की ओर गिरी हुई है। बुद्ध की आकृति में कमर में धारीदार ढीला वस्त्र है। त्रिभंगी मुद्रा में बुद्ध के दाहिने हाथ में नीलकमल है, जो कटकहस्त मुद्रा में संयोजन केंद्र में स्थित है। बुद्ध के हाथ में पद्मपुष्प भी प्रतीक स्वरूप है। भारतीय संस्कृति में कमल का गंभीर अर्थ लिया गया है, जिसके अनुसार कमल का जन्म काली मिट्टी और सडे हुए पदार्थ से होता है परंतु वह उससे ऊपर उठकर संसार में अपनी सुरभि बिखेरता है। उसी प्रकार बोधि सत्व भी इसी संसार में जन्मे, इस संसार से विरक्त रहे तथा मानव-मोक्ष के साधनों की खोज में डूबे रहे। अत्यंत प्रवाहमान तथा रमणीय होने के साथ-साथ कमल कालजयी प्रतीक भी माना गया है। कमल का प्रभाव शताब्दियों तक मानवाकृतियों एवं पशुओं की आकृतियों के अंगों तक पर रहा है। अजंता के कलाकारों ने भी बुद्ध की आकृति में कमल समान अंग-प्रत्यंग रूपायित किये हैं।

सबसे अधिक करूणा नेत्रों से प्रकट होती है। अत: कलाकार ने बुद्ध के नेत्र शोक में डूबे हुये अधखुले कमल की पंखुडी के समान कोमलता से युक्त चित्रित किये हैं। दाहिने हाथ की हस्तमुद्रा की विशेषता है, कि कलाकार ने उसे कमल की नाल के समान शिथिल एवं लचीला बनाया है। हाथ की अंगुलियाँ भी कमल की पंखुड़ियों के समान नीचे की ओर मुड़ी हुई अंकित हुई हैं। इस प्रकार कलाकार अंग-प्रत्यंग में शिथिलता दर्शाकर सांसारिक क्लेशों के प्रति बुद्ध की करूणा की अभिव्यंजना में पूर्ण सफल हुआ है।

पद्मपाणि के बाई ओर एक कृष्णवर्णी राजकुमारी आदमकद में चित्रित है। यह नारी आकृति भी अत्यंत लावण्यमयी, प्रगाढ़ चिंतनशीलता से युक्त, शिथिल अवयव चित्रित हैं। नारी आकृति की प्रगाढ चिंतनशीलता का भाव उसके नेत्रों की मुद्रा में स्पष्ट है। ये नारी आकृति बुद्ध के निकट (थोड़ी) तनिक झुकी हुई है। शिथिल शरीर, ढीले वस्त्र, नेत्रों की भंगिमा तथा आसनिक मुद्राओं के द्वारा कलाकार शोक व्यंजना में पूर्ण सफल रहा है। साथ ही चित्र के अन्य तत्वों यथा रंग, रेखालय आदि के विषयानुकूल संयोजन से भी चित्रों में शोक उभरा है। साहित्यदर्पण एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण में शोकभाव से उत्पन्न करुण रस का वर्ण, कपोत वर्ण माना गया है। परंतु अजंता भित्तिचित्रों में शोकभाव के चित्रण के लिए कलाकार ने कपोतवर्ण के स्थान पर गहरा भूरा तथा स्लेटी वर्ण प्रयोग किया है, यह स्लेटी तथा भूरा कहीं नीलामिश्रित, कही लालमिश्रित, तो कही पीला व हरा मिश्रित है। यह अजंता के कलाकारों की मौलिकता है कि उन्होंने भावों की व्यंजना के लिए वर्ण संयोजन अपनी कल्पना से ही किया है।.शोक भाव व्यंजना के अधिकांश चित्रों में आकृतियाँ गहरे रंग में बनाई गयी हैं।

पद्मपाणि की आकृति का वर्ण चयन भी कलाकार की स्वयं की निपुणता का परिचायक है। कलाकार ने मोती समान सलेटी वर्ण के साथ भूरे वर्ण का सम्मिश्रण किया है। आकृति में कोमल छाया प्रकाश चिताग्रस्तता एवं उदासीनता उड़ेलता है। नाक के ऊपर का तीव्र प्रकाश तथा

पद्म पुष्प का तीव्र प्रकाश अतिविशिष्ट है जिससे आकृति में जीवित आकृति का सा प्रभाव उत्पन्न हो गया है।

वर्णचयन के समान रेखांकन में भी अजंता के कलाकार अद्वितीय रहे हैं। रेखाओं पर कलाकारों का अद्भुत अधिकार था। पद्मपाणी की आकृति में कलाकार ने शिथिल, सूक्ष्म कोमल एवं लयात्मक रेखायें अंकित की हैं, जो शोक-भाव की व्यंजना के अनुकूल हैं। पद्मपाणि की भौहें कलाकार ने तूलिका के एक ही स्पर्श के द्वारा अंकित की हैं, जिसमें रेखायें अत्यंत लयात्मक तथा आवश्यकतानुसार मोटी एवं बारीक होती हुई चित्रित हुई हैं। पद्मपाणि की जुड़ी हुई घुमावदार भौहें उनकी चिंतनशीलता दर्शाती हैं। श्रीमंत बाला जी राव ने पद्मपाणि के चित्र की प्रशंसा करते हुये लिखा है -

> "ये चित्र मात्र सुदर ही नहीं, कवित्तमय लावण्य से परिपूर्ण हैं, अतः इसके अवलोकन के लिए कवित्तमय मस्तिष्क की आवश्यकता है।"

पद्मपाणि की आकृति विशाल आकार की होने पर भी देखने में हल्की प्रतीत होती है। आकृति की विशेषता है कि कलाकार ने आकृति में लय ऊपर की ओर जाकर, नीचे की ओर झुकी हुई अंकित की है। प्रायः शोकभाव के सभी चित्रों में कलाकार ने नीचे की ओर झुकी हुई लय अंकित की है।

चित्र में वातावरण उत्पन्न करने में पृष्ठभूमि का विशेष स्थान होता है। पद्मपाणि संयोजन में संयोजन की पृष्ठभूमि अत्यंत विस्तृत है तथा पर्याप्त उत्साह एवं प्रफुल्लता दर्शाती है। रूढ़िगत पहाड़ों पर लाल पट्टियाँ अंकित हैं। विभिन्न पशु-पक्षी आनदमय क्रीड़ाओं में मग्न है। पशु-पक्षियों के अतिरिक्त मिथुनाकृतियाँ, यक्ष-यक्षी, किन्नर गंधर्व भी अंकित हैं। समस्त पृष्ठभूमि में वनस्पति का सुरुचिपूर्ण अंकन है। उदाहरण - सुपारी का वृक्ष, ताड़ का वृक्ष तथा अशोक वृक्ष की पत्तियों में यथार्थपूर्ण अद्भुत कलात्मक अंकन है। हरी पृष्ठभूमि पर काले धब्बे जो बोधिसत्व के मुकुट के ठीक पीछे है, चित्र में क्षयवृद्धि का प्रभाव जोड़ते हैं। चित्र का विषय आध्यात्मिक है और इस आध्यात्मिक विषय की लय ने रुचिकर पूरक रंगों द्वारा अतिरिक्त सौंदर्य पाया है। पत्तों के गुच्छों का गहरे लाल रंग की पट्टियों में परिवर्तित होता हुआ हरा रंग तथा पक्षियों के परों का चमकदार नीला रंग, स्फूर्तिदायक धूमिल मांसपेशियों की रंगत के साथ कपड़ों तथा आभूषणों का रंग विशेष लावण्यमय है।

पद्मपाणि के चित्र संयोजन में कलाकार ने चित्र की पृष्ठभूमि बुद्ध की करुणार्द्र मुद्रा के विपरीत अत्यंत उत्फुल्ल चित्रित करके चित्र में संतुलन स्थापित किया है। चित्र की पृष्ठभूमि में चारों ओर व्याप्त उत्तेजना पूर्ण वातावरण से विमुख बुद्ध सांसारिक क्लेशों से त्रस्त मानव के लिए विक्षुब्ध हैं तथा उनकी मुक्ति के लिए करुणार्द्र मुद्रा में आत्मरत हैं।

□

अमीर खुसरो और भारतीय भाषा-सर्वेक्षण

डॉ. परमानंद पांचाल

अमीर खुसरो (1255-1325 ई.) एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। वे अरबी और तुर्की के विद्वान और संस्कृत के ज्ञाता थे। फारसी इनके घर की बांदी थी। खड़ी बोली इन्हें अपनी माँ से विरासत में मिली थी। इन्हें खड़ी बोली हिंदी का प्रथम कवि माना जाता है। इन्होंने ही सर्वप्रथम दिल्ली के आसपास की इस बोली का काव्य में प्रयोग किया, जिसे सैनिकों और व्यापारियों द्वारा दक्खिन में ले जाया गया और वहाँ "दक्खिनी हिंदी" के रूप में विकसित हो पुनः उत्तर लौटी और आज उसी का परिनिष्ठित रूप इस देश की राजभाषा के रूप में समादृत है। कितने संयोग की बात है कि आज से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व अमीर खुसरो जिस बोली को काव्य की भाषा बनाने का प्रयत्न कर रहे थे वही आज उस देश की राजभाषा स्वीकृत है। एक प्रकार से इन्हें खड़ी बोली हिंदी का जनक कहा जा सकता है।

वास्तव में खुसरो फारसी के उच्च कोटि के कवि थे। उनकी फारसी कविता शेख सादी और हाफिज की कविता से टक्कर ले सकती है। स्वयं ईरानी विद्वान भी इन्हें "तूती-ए-हिंद" के नाम से पुकारते थे। खुसरो के समकालीन इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी का कथन है :

"अमीर खुसरो दर नज्म व नस्त्र फारसी कुतबखाना तसनीफ करदा अस्त"। (अर्थात् अमीर खुसरो ने फारसी पद्य तथा गद्य के एक पुस्तकालय की रचना की है)।

फारसी के इतने उच्च कोटि के कवि होने पर भी इन्हें अपनी मातृभाषा हिंदवी (हिंदी) पर गर्व था -

"तुर्क हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम जबाब
शकर मिस्त्री न दारम कज अरब गोयम सुखन,

(मुकद्दमा दीवान "गुर्रा तुल कमाल")

(मैं हिंदुस्तानी तुर्क हूँ और हिदवी मे उत्तर देता हूँ, मेरे पास मिस्त्र की शक्कर नहीं है कि मैं अरबों की बात करूँ)।

अमीर खुसरो फारसी और खड़ी बोली के महान कवि होने के साथ-साथ उच्च कोटि के भाषाविद् भी थे। उन्होंने सभी भारतीय भाषाओं को निकट से देखा था, जिनका उन्होंने अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है। इनके द्वारा भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही वह देश की विविधता में एकता का भी द्योतक है। सर जार्ज ग्रियर्सन से लगभग साढ़े छह सौ वर्ष पूर्व भाषाओं की जो स्थिति खुसरो द्वारा बताई गई है प्रायः वही आज भी है, खुसरो पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से बंगाल तक सारे भारत की भाषाओं का सम्यक् अध्ययन किया था और उनकी सूची तैयार की थी।

खुसरो ने अपनी प्रसिद्ध मसनवी "नूहसिपहर" (नौ आकाश) के एक अध्याय (सर्ग 3, अध्याय 5) में भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। भारतीय भाषाओं के इस सर्वेक्षण का उल्लेख सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी अपने ग्रंथ के आरंभ में किया है।

खुसरो अपनी मसनवी नूहसिपहर के शुरू के बैत 71, 72 व 73 में भारत की मुख्य भाषाओं का उल्लेख करते हैं। खुसरो ने सिंदी (सिंधी), लाहौरी (पंजाबी), कश्मीरी, कबर, (डोगरी) घूर समंदरी, तिलंगी (तेलुगु), गुज़र (गुजराती), माअबरी (कारोमंडल समुद्र तट की भाषा तमिल), गौरी (गौडी-पश्चिमी बंगला), बंगाल (बंगला), अवद (अवधी-पूर्वी हिंदी) और दिल्ली तथा उसके आसपास क। भाषा, इन सभी भाषाओं का उल्लेख किया है।

देखिए - - - - - - - - - -

"सिंदी व लौहौरी व कश्मीर व कबर
धूर समन्दरी व तिलंगी, व गुज़र
माअबरी व गौरी व बंगाल व अवद,
देहली व पेरा मनश अन्दर हम हद -
ई हमा हिंदवीस्त जे अय्यामे कुहन
आमह व करस्त व हरगी न सुखन"

हिंदवी भाषा के संबंध में वह कहता है कि इसका अस्तित्व प्राचीन काल में था और आज भी पाया जाता है - - - -

"हिंद हमीन काइदह दारद व सुखन
हिंदुई बूद अस्त दर अय्या मे कुहन"

(अर्थात भारत में भाषा के नियम बने हुए थे। हिंदुई भाषा प्राचीन काल से ही विद्यमान थी और आज भी है)।

इससे जार्ज ग्रियर्सन की इस भ्रांति का निराकरण हो जाता है कि "यहाँ हिंदी से वास्तव में खुसरो का तात्पर्य संस्कृत से है, न कि उस भाषा से जिसे हम आज इस नाम से अभिहित करते हैं।" इस बैत का साफ अर्थ है कि हिंदुई भाषा प्राचीन काल में थी और आज भी है। हिंदुई से तात्पर्य "संस्कृत" नहीं है, जैसा कि ग्रियर्सन कहते हैं।

संस्कृत के संबंध में खुसरो का कथन है कि -

सस्कृत नाम ज़ि अहदे कुहनाश
आम्मह न दारद खबर अज कुन-म कुनश"

(अर्थात् प्राचीन काल से इसका नाम संस्कृत है। जन साधारण के साथ उसके व्याकरण की बारीकियों की वार्ता नहीं है)। संस्कृत के संबंध में वह आगे कहता है कि वह ब्राह्मणों के पास है और "दरी" भाषा से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

"गरचे कि शीरीनस्त दरी व शकरीन
जौके इबारत कम अज़ानीस्त दरीन,

(यद्यपि "दरी" भाषा मीठी और शक्कर के समान है, (संस्कृत भाषा) में उससे साहित्य सृजनशीलता किसी भी प्रकार कम नहीं है।) "दरी" भाषा स्टीनगास के कोश के अनुसार बलख जो आवैसस नदी के तट पर है, बदख्शां, बुखारा आदि प्रदेश में प्रयुक्त होती है। यह फारसी की एक बोली है। खुसरो के अनुसार फारसी यद्यपि ईरान में पैदा हुई किंतु वहाँ पर उसका स्वरूप शुद्ध

नही रहा। उसका शुद्ध रूप तो दरी के रूप में मावरा-उन्नहार अर्थात बलख, बुखारा आदि में पाया जाता है।

खुसरो के भाषा-सर्वेक्षण में संविधान की 8 वीं अनुसूची में उल्लिखित 15 भाषाओं में से केवल मराठी, कन्नड, उड़िया और असमिया का उल्लेख नहीं है। हाँ कैबर" नाम की जिस भाषा का उल्लेख किया गया है वह अज्ञात है। बंगाली के लिए दो क्षेत्रीय भाषाओं "गौड़" और "बंगाल" का उल्लेख खुसरो ने किया है। हो सकता है असमिया भी बंगाल के अंतर्गत ही स्वीकार कर ली गई हो, क्योंकि लगता है कि असमिया तब तक स्वतंत्र भाषा के रूप में भी विकसित न हुई हो। फिर भी खुसरो के इस भाषा-सर्वेक्षण का ऐतिहासिक महत्व है।

खुसरो भाषाविद् होने के साथ-साथ एक कोशकार भी थे और उन्होंने अरबी-फारसी और हिंदी का एक पर्यायवाची शब्दकोश "खालिक बारी" नाम से भी तैयार किया था। यह एक प्रकार से पारिभाषिक शब्दावली ग्रंथ ही है जिसमें शब्दों की संख्या निम्न प्रकार है -

अरबी - 237, तुर्की - 2, फारसी - 482, हिंदी - 475

खुसरो युग-द्रष्टा थे। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक आवश्यकता को देखते हुए ही इस ग्रंथ की रचना की थी। क्योंकि बाहर से आने वाले फारसी और अरबी जानने वाले मुसलमानों के लिए यहाँ की भाषा अपरिचित थी, इसलिए कोश के द्वारा उन्हें हिंदी और हिंदी वालों को फारसी का कार्यकारी ज्ञान करा दिया जाता था। उपादेयता की दृष्टि से 'खालिकबारी' का ऐतिहासिक महत्व है। इसकी प्रामाणिकता को लेकर भी कुछ शंकाएं उठी हैं। संदेह करने वालों में "पंजाब में उर्दू" के रचयिता प्रो शीरानी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किंतु उनके तथ्यों में कोई विशेष जान नहीं है।

□

मंचीय हिंदी नाटकों का प्रारंभ और 'बेताब' का योगदान

सुरेंद्र मोहन मिश्र

उन्नीसवीं शती के अंतिम वर्षों में जिस पारसी नाट्य कला का जन्म और विकास हुआ उसकी परंपरा 1930 ईसवी तक चलती रही। इस नाट्य परंपरा का जन्म नवाब वाजिद अली शाह की सभा में खेले जाने वाले 'इंदर सभा' नाटक से माना जाता है। वर्तमान में गाँवों, कस्बों में होने वाली नौटंकियों में इस परंपरा को खोजा जा सकता है। सस्ते और फूहड मजाकों से भरे पारसी नाटकों ने जनता में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। इन नाटको का नशा दर्शकों पर हफ्तों महीनों तक छाया रहता। गानो का हाल यह था कि गली-गली में उन्हीं की गूँज समायी रहती। चरवाहे जंगलों में जानवरों को चुगाने ले जाते तो पेड़ों की छाया में बैठे इन्हीं नाटकों के गाने पूरी आवाज में गाते। दर्शक पचास-पचास मील पैदल चल कर नाटक देखने का शौक पूरा करते। गरीबों ने अपने कपड़े बेच कर नाटक देखे। इन नाटकों के लिये भिश्तियों की मशकें और छात्रों की किताबें भी बिक जातीं। बात तब की है जब तीन रुपये मासिक में अध्यापक अपने परिवार की रोटी भी चलाता था और विवाह आदि का व्यय भी आनंदपूर्वक कर लेता था।

इन्हीं दिनों नाट्य क्षेत्र में दो ऐसी हस्तियों का प्रवेश हुआ जिन्होंने नाट्य मंच को एक नई सुधरी हुई दिशा दी। इन में बहुत सम्मान से तीन नाम लिये जा सकते हैं। बनारस के मुंशी विनायक प्रसाद "तालिब", दिल्ली के नारायण प्रसाद "बेताब " और बरेली के राधेश्याम कथावाचक ने अपने नाटकों से एक नई धारा बहाई जिस में पारसी नाटकों की समस्त कल्मषता धुल गई। साफ सुथरी धार्मिक पृष्ठभूमि पर खड़ी भाव धारा को भी जनता ने भरपूर सराहना दी।

पं. नारायण प्रसाद 'बेताब' का जन्म स्थान उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर जनपद का औरंगाबाद कस्बा है। सन 1872 में जन्मे बेताब जी की माता का स्वर्गवास तभी हो गया था जब ये दो वर्ष के थे। इनके पिता मिठाई की दुकान करते थे। बेताब जी को उचित शिक्षा तो न मिल पाई पर पं. श्लेषचंद्र वैद्य राज से इन्होंने पिंगल शास्त्र का व्यापक ज्ञान प्राप्त किया और लोक काव्य लिखने में प्रवीण हो गये। बेताब जी अपनी दुकान पर ही मिठाईयाँ बनाते बनाते कवितायें भी जोड़ते जाते थे।

पारिवारिक कलेश से दुःखी हो कर बेताब जी ने एक दिन घर त्याग दिया। हापुड और मेरठ कुछ दिन खाली रहने के बाद इन्होंने दिल्ली की राह ली और वहाँ चार रुपये मासिक की नौकरी कर ली। नौकरी केसरेहिंद प्रेस में थी। इसी नौकरी के बीच इनका परिचय दिल्ली आई हुई एक नाटक कंपनी से हुआ और इनको कंपनी ने तीस रुपये मासिक पर अपने यहाँ रख लिया। इस कंपनी के लिये इन्होंने कई नाटक लिखे और अच्छी लोकप्रियता पाई। बुलंदशहर के डी. ए. वी. हाई स्कूल में आपने कई वर्ष तक अवैतनिक सेवा की।

अल्फ्रेड कंपनी इन को पहिले तीन सौ पचास मासिक देती थी बाद में पांच सौ भी मिलने लगे । यहीं से बेताब जी कलकत्ते के मदन थिएटर्स में चले गये । यहाँ उनका वेतन सात सौ पचास रूपये हो गया। मदन थियेटर्स के माध्यम से भी बेताब जी ने हिंदी की सेवा की। इन के कई नाटकों का कलकत्ते की इस कंपनी ने सफलता पूर्वक प्रदर्शन किया। बेताब जी की प्रसिद्धि में इस संस्था का भी विशेष योगदान रहा।

नारायण प्रसाद "बेताब" नाटककार होने के साथ-साथ अच्छे कवि भी थे। दिल्ली के चाहरहट में इन का बेताब प्रिंटिंग प्रेस था। अपनी समस्त पुस्तकों का प्रकाशन इन्होंने स्वयं ही किया था। इन के नाटकों को बबई की अल्फ्रेड कंपनी द्वारा देशभर में खेला गया। सेठ काउस जी पालन जी खटाऊ इस कंपनी के मालिक और डायरेक्टर थे। यह अल्फ्रेड कंपनी केवल बड़े नगरों में ही अपने नाटक दिखाती थी। इसी की प्रतिस्पर्धा में एक नई नाटक कंपनी बनाई गई "अल्फ्रेड" जिसके स्वामी मानिक जी जीवन जी मास्टर और नाटककार पं राधेश्याम कथावाचक थे।

बेताब जी के चार नाटक अल्फ्रेड नाटक कंपनी द्वारा खेले जा कर देश भर में प्रसिद्ध हुए। "कृष्ण सुदामा", "महाभारत", "पत्नी प्रताप" और "रामायण तीनों" ही नाटक लाहौर, देहली, अमृतसर, बनारस और कलकत्ते के रंगमंचों पर जनता द्वारा सराहना पाते रहे। "बेताब" जी को अनेक स्वर्ण पदक इन नगरों से प्राप्त हुए।

पारसी नाटकों में अश्लीलता के कारण प्रायः स्त्रियाँ और बच्चों को नहीं ले जाया जाता था। इस स्थिति का एक अच्छा चित्रण बेताब जी ने "पत्नी प्रताप" नाटक की प्रस्तावना में सूत्राधार द्वारा कराया है :-

नटी - आर्य पुत्र। आप श्रोता मंडल की तरफ क्या देखते हैं ?

सूत्र - आये हैं गुन के ग्राहक और गुन को देखते हैं।
जो हम को देखते हैं हम उन को देखते हैं।

नटी - तो आप ने क्या देखा ?

सूत्र - हम अपनी भाषा में जिसे दृश्य काव्य या नाटक कहते हैं, ऋषियों की भाषा में चाक्षुषयज्ञ इसका नाम है और यज्ञ करना स्त्री और पुरुष दोनों का काम हैं। परंतु शोक है कि इस यज्ञशाला या उपदेश भवन में हमारी माताएँ और बहनें बहुत कम नजर आती हैं।

नटी - इसका कारण यह है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम पढ़ी लिखी होती हैं इस लिए उनका नाटक समझना दुश्वार होता है।

सूत्र - पुरूष भी तो सब पढे लिखे नहीं होते और नाटक के भाव समझ लेते हैं। क्योंकि इस चाक्षुष यज्ञ में तो विशेष कर मन के साथ आँखों का व्यवहार होता है।

नटी - तो यह पुरुषों का अत्याचार है कि आप तो नाटक देखते हैं और उनसे कहते हैं कि नाटकशाला बहुत दूर है।

सूत्र - नहीं इसमें श्री मान गृहस्थों का कसूर नहीं हमारा ही कसूर है।

नटी - हमारा ही कसूर है , यह क्यों ?

सूत्र - यों कि हमारे नाटक की कथा प्रायः अश्लील और रचना वीभत्स रस से भरपूर है।
जब चला श्रृंगार रस मर्यादा सीमा तोड कर।
आ गया वीभत्स में लज्जा की आँखें फोड़ कर।
पूछ बैठी भाई से भगनी तो कन्या बाप से।
शर्म से दोनों के दोनों रह गये मुँह मोड़ कर।

उपरोक्त उदाहरण लेखक के निजी विचारों को प्रकट करते हैं, दूसरे शब्दों में नाटककार स्वयं हा सूत्रधार के रूप में अपने विचारों को अभिव्यक्ति दे रहा है। बेताब जी की भाषा सरल और सुव्यवस्थित थी। मुहावरेदार भाषा और बीच-बीच में छंदों का मिश्रण नाटक में जान डाल देते थे। 'पत्नी प्रताप' नाटक में सती अनुसूया की कथा का बडा सफल और मोहक चित्रण किया गया है, इस नाटक के पद्य भरे कुछ संवाद दृष्टव्य हैं :-

अनुसूया - उस खुले मार्ग पर चलने से तुझे किसने रोका है और इस तंग गली की तरफ झोंका है ?
रेवा - उस खुले मार्ग तक पहुँचाया मुझको मेरे माँ बापों ने।
पर कदम न रखने दिया सडक पर पूर्व जन्म के पापों ने
छ : सात बार टक्कर खाई अब कहती भी शरमाती हूँ।
जब खुला रास्ता खुला नहीं तब तंग गली से जाती हूँ।
अन - क्यों राज मार्ग से लौटी तू क्या विघ्न किसी ने डाला था
कारण तो मुझे बता इसका वह कौन रोकने वाला था।
रेवा - कारण है केवल भाग्य मेरा या कारण एक विधाता है।
जिससे होता है वाग्दान वह वर फौरन मर जाता है।
अन - माता मर जाये जो बचपन में बेटा मर जाये बुढ़ापे में
जोडा नहीं मिले जवानी में फिर आग लगे इस आपे में
रेवा - किस्मत में नहीं पति सेवा तो जोग में है संतोष मुझे
है स्वर्ग धाम के जाने को दोनों रास्ते निर्दोष मुझे
वह मार्ग जहाँ पहुँचा देता यह बाट वहीं पहुँचाती है
इक राह उधर से जाती थी इक राह इधर से जाती है

बेताब जी खुले मस्तिष्क के लेखक थे। धार्मिक श्रद्धा और ऐतिहासिक तथ्यों को अलग करके देखने की क्षमता उन में थी। "रामायण-नाटक" की प्रस्तावना में उन्होंने इसी समस्या को उठाया है कि रावण दश सिर और हनुमान का वानर होना दिखाया जाना क्या इतिहासोचित है। लेखक ने राम की कथा तुलसीदास से नहीं ली वरन वाल्मीकि को ही अपना आधार बनाया है। प्रस्तावना का कुछ अंश इस दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करता है :-

पारि - महाराज। आप की आज्ञानुसार रामायण नाटक की सब सामग्री तैयार है। आज्ञा कीजिये कि रावण के दस मुख और बीस भुजाएँ बनाएँ ? या एक मुख और दो भुजाएँ दिखाएँ इसी तरह हनुमान जी को बंदर बना कर दुम लगाएँ या एक विद्वान योद्धा बनाकर रंगशाला में लाएँ।

सूत्र - प्रश्न बहुत कठिन हैं
एकानन हो या दशकंधर, यों भी मुशकिल यों भी मुशकिल।
इंसान बनाएं या बंदर, यों भी मुशकिल यों भी मुशकिल।
भक्तों ने मान रखा है कुछ, गुणियों ने जान रखा है कुछ।
संतुष्ट हों दोनों दल क्योंकर, यों भी मुशकिल यों भी मुशकिल।
है तुलसीदास का बचन अलग, मुनि वाल्मीक का कथन अलग।
हम अमल करें कहिये किस पर, यों भी मुशकिल यों भी मुशकिल।

बेताब जी की रामायण के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं विष्णु अवतार नहीं। नाटक की भाषा में उर्दू सरल शब्दों का प्रयोग बाहुल्यता से किया गया है अब से पचास वर्ष पूर्व यही सरल हिंदी कहलाती थी। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद इसी उर्दू मिश्रित सरल हिंदी के पक्षधर थे। "रामायण" नाटक का भरत कैकेयी संवाद हमारी बात की पुष्टि करेगा :-

कैकेयी - बेटा इतना समझाने पर भी तेरा शोक नहीं गया ?

भरत - हाँ मेरी जीवात्मा बडी निर्लज्ज है कि इतने शोक पर भी अब तक परलोक नहीं गया।

कैकेयी - शोक की रस्म बहुत कुछ अदा हो ली अब सावधानी से राज काज सँभालो, समय को पहचानो, आँखों से आँसू न निकालो।

भरत - कुल नाशिनी माता। मैं तुझे प्रणाम कर कर के धिक्कारता हूँ।

कैकेयी - तहजीब भी शरीक है जोशे ग़ज़ब के साथ,
देता है गालियाँ मुझे लेकिन अदब के साथ

भरत - धर्मवीर का सपूत औलाद का यह काम है,
दुर्वचन तुम को है माता के लिये प्रणाम है।

कैकेयी - भरत। मैंने जो कुछ किया तेरे भले के लिये किया।

भरत - भला मंजूर था तो यूं किया होता भला मेरा,
लिया था जन्म जब मैंने दबा देती गला मेरा।

कैकेयी - बेटा मेरे दूध की तो शर्म कर।

भरत - मुझे वही शर्म तो आ रही है। न मैं तेरा दूध पीता न इस दिन के लिये जीता
परंतु क्या करूँ बचपन में ज्ञान ही न था।
जो मुझ को यह खबर होती तो मैं दुनिया से चल देता
कभी पीता न तेरा दूध, पीता तो उगल देता।
प्रभु से गर्भ में फरयाद करता और फल देता।
बदल देता वो तेरी कोख या मुझको बदल देता।

न मैं पैदा यहाँ होता न ऐसी दुर्दशा होती।
पशुयौनी थी अच्छी पर न माता कर्कशा होती।

कैकेयी - अरे बावले मैंने तुझे ताज दिलाया। दास बनने से बचाया फिर भी तेरी समझ में न आया।

बेताब जी ने सन् 1920 में एक मासिक पत्र भी दिल्ली से निकाला था। यह मासिक अपने ढंग का एक अनूठा मासिक ही था। इसका नाम "पिंगल पाठावली" था। इस में काव्य शास्त्र का ज्ञान दिया जाता था। एक विशेषता यह थी कि यह अमूल्य था और बेताब जी इसे अपने पास से ही डाक खर्च व्यय कर के भेजते थे। यह पत्र केवल एक वर्ष चल पाया।

इसी पत्रिका के बारह अंकों की सामग्री को "पिंगल सार" नामक ग्रंथ में संग्रहित कर दिया। पुस्तक की पृष्ठ संख्या सभवतया कम थी। अतः विज्ञापन में बेताब जी दो पंक्तियाँ दिया करते थे:-

यह पृष्ठ कम है कि हैं बुरे तो बला से कुछ भी न बोलिए।
मेरी गुदड़ी को न देखिये मगर इस में लाल टटोलिये।

बेताब जी ने हिंदी का प्रथम तुकांत कोश बनाया था। उसका नाम था "प्रास पुंज"। यह एक अद्भुत रचना थी। जिस में अनेक तुकों का सग्रह किया गया था एक विज्ञापन अच्छा परिचय दे रहा है इसका। अतः यहाँ प्रस्तुत है:--

कविता की कल काफियों का कोश, तुकांत का खजाना पद्य पथ प्रदर्शक नारायण प्रसाद (बेताब) प्रणीत प्राप्त पुज हिंदी अक्षरों में छपकर तैयार हो गया।

यदि आपको समाचार पत्रो में अपनी कविता छपवाने का उत्सवों पर नज्म पढ़ने का, उर्दू तर्ज पर ग़ज़ल लिखने का, हिंदी समस्यापूर्ति का, नाटक लिखने का शौक है तो प्रास पुंज अवश्य देखिये। रोशन दिमाग शहरों और प्रकाशप्रिय कवियों को इस चौमुखे चिराग से लाभ होंगे।

1 प्रास, काफिया, तुक, तकांत क्या वस्तु है? कैसे बना है? शुद्ध अशुद्ध की पहचान क्या है? उर्दू का तरीका हिंदी की रीति क्या है। इन प्रश्नो का सरल उत्तर मिलेगा।

2 छः हजार से अधिक काफियों का कोश इन तरह दिया है कि जो प्राप्त चाहिये फौरन मिल सके।

3 शब्द का लिंग अर्थात मुजकर मुअन्नस का ज्ञान शब्द के साथ ही मालूम हो जाता है।

4 पिंगल के प्रसिद्ध 50 से अधिक छंदों के नियम स्वरूप और उदाहरण सहित लिखे हैं।

इनका एक ग्रंथ "पद्य परीक्षा" भी काव्य शास्त्र का ही एक महत्वपूर्ण अंश है जो लेखक द्वारा दिये गये एक विज्ञापन के अनुसार "भारत के मशहूर मशहूर कवियों की कविताओं के पिंगल शास्त्रानुसार बेलाग समालोचना करते गुण दोष लिखे हैं। अयोध्यासिंह जी उपाध्याय, रामचरित जी उपाध्याय, श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकर शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र बंधु, लाला भगवान दीन 'दीन', त्रिशूल, पं· रूपनारायण पांडेय इत्यादि कवियों ने जिन-जिन छंदों का व्यवहार किया है उन हिंदी छंदों के नियम उर्दू बहरों के कायदे भी समालोचना के साथ लिखे गये हैं।"

बेताब जी ने "पद्य परीक्षा" के माध्यम से हिंदी के महारथियों के काव्य दोष गिनाए हैं। यह पुस्तक कविता कामिनी, कांत महाकवि नाथूराम शर्मा "शंकर" को समर्पित की गई थी। समर्पण में बेताब जी ने लिखा था - "पद्य परीक्षा में कड़वी सच्चाई है, इस कड़वाहट को शंकर के सिवा और कोई नहीं पचा सकता।" बेताब जी ने पिंगल की दृष्टि से केवल शंकर जी की कविता को ही शुद्ध और दोषहीन सिद्ध किया था, इसमें अतिशयोक्ति नहीं थी। शंकर जी सचमुच पिंगल शास्त्र के आचार्य थे और आधुनिक कवियों में उनके जैसे छंद रचने वाले एक दो ही कवि और होंगे। हरिऔध जी का नाम यहाँ श्रद्धा से लिया जा सकता है।

इन चार नाटको के अतिरिक्त भी बेताब जी के गणेश जन्म, मदर इंडिया, समाज, सीता, फूल का फल, अलीबाबा, कसौटी, अमृत, कृष्णावतार, जहरीला साँप और मयूर ध्वज नाटकों को अच्छा ख्याति मिली। नाटकों और फिल्मी कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने 32 पुस्तकें और रची पंजाब के उर्दू पत्रों में बेताब जी की कविताएँ बड़े सम्मान से छापी जाती थीं।

बेताब जी की पुस्तको में "दयानंद दिग्दर्शन" और 100 दोहों का संग्रह "नारायण शतक" भी प्रसिद्ध रहे। इस ग्रंथ को राधेश्याम प्रेस बरेली ने छापा था। दयानंद दिग्दर्शन में बेताब जी के उन निबंधों का संग्रह था जो कभी लाहौर के एक पत्र "प्रकाश" के "ऋष्यांकों" में निकले थे। आरंभिक बच्चों के लिये छंदों में रचा गया अक्षर ज्ञान "हिंदोद्धार" के नाम से छपा यह भी अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास था। बेताब जी बड़ी मौलिक प्रतिभा वाले लेखक थे और नये-नये प्रयासों में रुचि रखते थे। पचास साठ वर्षों के दीर्घ अंतराल ने दिल्ली साहित्याकाश के इस अनूठे नक्षत्र की स्मृतियों को भले ही आज धुँधला दिया हो पर उसके नाटकों की कभी देश भर में धूम मची थी। हिंदी के व्यावसायिक रंगमंच पर पिछले पारसी नाटकों के मुकाबले शिष्ट नाटकों का प्रचलन कराने में तालिब जी, बेताब जी, कथावाचक जी और मेरठ के व्याकुल जी की विशेष सेवायें हैं। जिनके लिये हिंदी नाट्य संसार उनका ऋणी रहेगा। फिल्मों में सर्व प्रथम हिंदी का प्रयोग भी बेताब जी ने ही किया था। इस प्रकार रंगमंच के ही नहीं हिंदी के जनमानस तक नाटको के माध्यम से पहुँचने का महत्वपूर्ण योगदान बीसवीं सदी के प्रारंभ में बेताब जी ने किया, यह बात अविस्मरणीय है।

□

कवि अरुण मित्र की अविराम काव्य-यात्रा

डॉ. रणजीत साहा

"घर से बाहर निकलकर-इस शहर में
क़तार-दर क़तार दूर-दराज तक फैले
चक्के ही चक्के,
आँधियाँ-सी उठाते हैं हडहडाते हैं ..... गरजते हैं
नहीं देखते कुछ भी घाट-बाट, बाज़ार-हाट,
बस टूट पडते हैं,
गुजर जाता है तूफान बडा बाज़ार को छूते हुए,
और फिर गडिया हाट के आकाश पर हवाओं में

इसे थामो, रोको .
रेशमी पर्दों पर पाँव रखते-रखते
कहीं टिक गयी हैं मेरी आँखें
पैट्रोमैक्स के उजाले अट्टसास में भांड जैसे
ठिठक कर रह गयी है।
कौंध-कौंध जाती हैं कामिला की बातें
यादें और हिदायतें
मैं उसके आखिरी शब्दों का फिर से लगा हूँ
सहेजने-समेटने
मेरे आस-पास फैला है नगर संकीर्तन का शोर
पर वह जानी-पहचानी आवाज सचमुच ही डूब चुकी है।
उसे पकड़ पाने को आगे बढ आता हूँ मैं-
बड़ी सावधानी के साथ, तोलता हुआ एक-एक कदम
मगर तिनकों से बनी यह घन्नई डोलती-डगमगाती
रहती है हरदम ।"

("बाइरे" शीर्षक कविता)

बांग्ला के वरिष्ठतम कवि अरुण मित्र की 80 वी वर्ष गांठ पर

ऊपर उद्धृत कविता बाड़्ला के विश्रुत और वरिष्ठतम कवि अरुण मित्र की है। उनका जन्म 20 नवंबर 1909 ई में, पूर्वी बंगाल के जैसोर जिले में हुआ था। वे पिछले साठ सालों से निरंतर कविताएँ लिख रहे हैं। संख्या में बहुत न होते हुए भी उनके काव्य-संकलनों की प्रसिद्धि उनकी मौलिकता और विशिष्टता से आँकी जाती रही है। पाठकों द्वारा वे पर्याप्त समादृत हुई हैं और उनसे काव्य-विधा को नयी दिशा और दृष्टि मिली है। वे अनिवार्य तौर पर आज भी बाड़्ला के वरिष्ठ एवं प्रतिनिधि कवियों में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। बंगाल सरकार द्वारा काव्य के क्षेत्र में उनके विशिष्ट योगदान के लिए रवींद्र पुरस्कार (1979) से सम्मानित भी किया जा चुका है।

श्री मित्र इस शताब्दी के तीसरे दशक से युवा कवि के तौर पर सक्रिय हुए। बहुत दिनों तक वे पाठकों के लिए अपरिचित किंतु प्रिय कवि बने रहे, लेकिन जैसे-जैसे उनकी कविताओं का स्तर गंभीर और प्रभावी होता चला गया, वे कविता के क्षेत्र में परिचित और प्रतिष्ठित होते चले गये।

तीसरे दशक (दो विश्व युद्ध के बीच) के दौरान बाड़्ला के युवा कवियों की रचनाओं में परिवर्तन के कई विशिष्ट रंगों को देखा जा सकता है। रवींद्रनाथ ठाकुर तब मध्याह्न सूर्य की भाँति तप रहे थे, और छोटे-बड़े कवियों के लिए अपनी पहचान बनाये रखना एक तरह से जीवन-मरण का प्रश्न था। ऐसे ढेर सारे उदाहरण हैं कि कैसे सीधे-सीधे रवींद्रनाथ को नकार कर कवियों ने अपनी तरफ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। लेकिन वे कवि जो स्वभावतः उग्र नहीं थे, और जिनका हृदय उच्छल आवेग से अनुप्राणित था; और जो कविता लेखन के क्षेत्र में प्रयोग के नाम पर अनर्गल कुछ भी लिखने को तैयार न थे, उनमें अरुण मित्र का नाम पहला था। रवींद्रनाथ के अवसान के पूर्व ही, "कल्लोल गोष्ठी" नाम से जिन कवियों बुद्धदेव बसु, अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त, प्रेमेंद्र मित्र, मोहित लाल मजुमदार आदि) ने नयी काव्य-चेतना का संचार किया था, और साहित्य की लगभग सभी विधाओं में सक्रिय थे, अरुण मित्र ने स्वयं को काव्य-विधा तक ही अपने को नियंत्रित रखा और उन्होंने उक्त गोष्ठी से एक निश्चित दूरी बनाये रखी। हालाँकि वे एक कवि के रूप में "प्रांतरेखा" काव्य संकलन (1943) से अपनी प्रभावी पहचान और साख कायम कर चुके थे।

श्री मित्र के व्यक्तित्व और काव्य निर्माण में उनके स्वाध्याय और विदेशी भाषाओं का अध्ययन भी बहुत सहायक रहा। स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद, श्री मित्र ने एक पत्रकार के रूप में अपना कार्य जीवन आरंभ किया। इसके बाद कलकत्ता स्थित "एलायेंस फ्रांसे" नामक संस्था में फ्रांसीसी भाषा का अध्ययन करने के बाद वे फ्रांसीसी सरकार की छात्रवृत्ति प्राप्त कर पेरिस चले गये। वहाँ उन्होंने फ्रांसीसी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया और सेरबाँन से पी-एच. डी की उपाधि प्राप्त की। समकालीन फ्रांसीसी भाषा की प्रतिनिधि एवं महत्त्वपूर्ण रचनाओं, जिनमें वाल्तेयर का "कांदीद" और मालार्मे की कृतियाँ सम्मिलित हैं, का बाड़्ला में अनुवाद किया। भारत लौटने पर श्री मित्र इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विदेशी भाषा विभाग में फ्रांसीसी साहित्य के अध्ययन कार्य से लंबे समय तक जुड़े रहे। फ्रांसीसी साहित्य में उनकी पैठ उनकी महत्त्वपूर्ण कृति "फारासी साहित्य प्रसंग" से लगायी जा सकती है। उनके अन्य विशिष्ट काव्य संकलन हैं, "उत्सवेरदिके" (54) "घनिष्ठ ताप" (63) "मंचेरे बाहिरे माटिते" (71) "शिकड जदि चेना जाय" (19) "शुधु रातेर शब्द नय" (79) श्रेष्ठ कविता (80) "रातेर पर दिन" एवं

"अन्य स्वर" (83) लेकिन काव्य-रचना की स्वीकृति शास्त्रीय कसौटी के स्तर पर या विश्वविद्यालय पाठ्यक्रमोपयोगी दृष्टि से अरुण मित्र की कविताओं की परख नही हो सकती। वह अपने सामयिक संदर्भों, सामाजिक स्थितियों और प्रचलित मतवादों के बीच पली-बढ़ी है। उनसे प्रभावित भी हुई है, पर अन्यथा संपृक्त नही हुई। दो-दो विश्वयुद्ध और दोनों के बीच और तत्काल बाद के समय ने कवियों के मन और मानस को बहुत विचलित किया। लेकिन यही समय तत्कालीन कविता के सामयिक एवं सार्वजनिक स्वर के साथ श्री मित्र के विशेष संदर्भ में, उनके सर्जक व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत सहायक हुआ। कविता में युद्धोत्तर काल की वैज्ञानिक व्याख्या सामाजिक मूल्य बोध के साथ जुडती चली गयी और "कल्लोल गोष्ठी" के कवियों के तत्काल बाद जिन कवियों ने समयगत प्रवृत्तियों एवं परिवर्तनों को लक्ष्य किया, उनमें संजय भट्टाचार्य, समर सेन, दिनेश दास, वीरेंद्र चट्टोपाध्याय और सुभाष मुखोपाध्याय से भी पहले कवि अरुण मित्र का नामोल्लेख किया जा सकता है।

अपने आरंभिक दौर में श्री मित्र छंद प्रधान कविताएँ लिखते रहे और स्वभावतः युवा आक्रोश और प्रेमादर्श भी उनकी कविताओं में मुखरित होते रहे। रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941) के समय में एवं आधुनिक बाङ्ला कविता के प्रथम चरण में व्यंग्य-विद्रूप और आत्म सजगता से भी कविताएँ लिखी जा रही थीं। और उसके तुरंत बाद, इस तरह की रचनाओं की प्रतिक्रिया में भी सामाजिक अपेक्षा को बनाए रखने के उत्साह में ऐसी रचनाएँ भी सामने आयीं, जिनमें आवेग या आवेश था, और जो अपने तेवर में मुखर और प्रगल्भ थीं। जीवनानंद दास से लेकर बुद्धदेव बसु, सुभाष मुखोपाध्याय, शक्ति चट्टोपाध्याय, नीरेंद्र चक्रवर्ती, और सुनील गंगोपाध्याय ने आधुनिक बाङ्ला काव्य में विभिन्न मानसिकता और जटिल पदन्यास (पंक्ति-सरणि और शब्द-स्तबक) के कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। इन सारे आंदोलनों के केंद्र के ही नहीं, काव्य-यात्रा की परिधि के बाहर भी अरुण मित्र एक ऐसा नाम रहा है, जो निरंतर प्रयोगरत और प्रगतिशील रहा है। लेकिन ये सारे उपक्रम या उपलक्ष्य श्री मित्र के लिए पड़ाव की तरह रहे हैं, जिन्हें उन्होंने अपनी काव्य-साधना को किसी तयशुदा आंदोलन या सफ़रनामे से नहीं बाँधा। सुधी पाठकों को साथ लेकर चलते रहने के बावजूद उनकी कविता पाठकों की किसी भीड को संबोधित नही। वह सहज मानवीय आस्था से अपने समसामयिक संदर्भों को सींचते रहे हैं और लंबी कविता-यात्रा के दौरान मनुष्य के तमाम संघर्ष को स्वर देते रहे हैं। इसलिए उनको भूमिका किसी किताबी कवि या एक प्रवक्ता की नहीं रह जाती। वह भीड़ में, अकेले में, संघर्ष, संकल्प और संत्रास में, हाट-बाज़ार और मेले में, समाज के सुख-दुख में – अपने रागद्वेष, दंश-द्वंद्व और सुविधा-दुविधा सबको भूलकर–मनुष्य की जय-यात्रा में सम्मिलित होते हैं। कवि का यह उत्साह ही उसके तारुण्य का द्योतक है–उसकी ऊर्जा है जिसके बल पर उन्होंने सृजन को सदैव नवीन स्वर और संस्कार दिया है। "खुँजते-खुँजते एत दूर" काव्य सकलन (साहित्य अकादेमी द्वारा 1987 के लिए पुरस्कृत) इस दृष्टि से उनकी अविराम काव्य-यात्रा का ही अभिषेक है।

अरुण मित्र की कविताओं में स्पष्ट बिंबित होने वाला कवि का भाव-तारुण्य यह प्रतीत नहीं होने देता कि वे आज इस उम्र में भी इस रंग की कविताएँ लिख रहे हैं। इस रूप में वे अपनी युवावस्था से हो बोध और संवेदना के स्तर पर आधुनिकता से साथ-साथ समसामयिक भी रहे हैं। जहाँ तक काव्य-प्रयोग की बात है, उनकी बहुत-सी कविताएँ अनिवार्य रूप से गद्य की तरह लिखी

गयी हैं, और गद्य तथा पद्य दोनों को मिलाकर उन्होंने अपने छंदन्यास को अनूठा रूप और अभिनव मार्दव प्रदान किया है। उदाहरणार्थ गद्य-कविता का यह भाव समृद्ध अंश देखा जा सकता है :-

(अक्षर गुलो जुड़े जुड़े आमार घूमेर मध्ये मिशे गेल। निश्वास फेलार पाश फेगय शिउरे ओठाय आदर कोराय गोटा शब्द, आमार एवं आमि जार ऊपर रेखेछि सेइ पृथिवीर सम्पर्क एकटार पर एकटा फुटे एक दृश्य। जागार परेओ शब्देर रंगे अमार चोख दुटो वंद।" "शाब्द" गद्य कविता से उद्धृत)

अरुण मित्र के परवर्ती काव्यों में बिंब और विचार के साथ-साथ उसके सघान शब्द-संयोजन को लक्ष्य किया जा सकता है। शुद्ध कविता (प्योर पोइट्री) के बारे में दिये जाने वाले तर्क का वे विरोध करते रहे हैं। कविता की ज़मीन शाब्दिक धरातल के मुकाबले संवेदना के स्तर पर कहीं अधिक गहरी पहचान पैदा कर सकती है। श्री मित्र का मानना है कि उनकी कविताएँ "प्रमस्तिष्कीय दिशा" (सेरेब्रल डायरेक्शन) की तरफ गतिवान रही हैं। लेकिन इसके बावजूद उनका मानना है कि मस्तिष्क नहीं बल्कि हृदय ही कविता का यथार्थ स्रष्टा रहा है। मनुष्य, धरती और प्रकृति के अक्षय स्रोत उसकी कृतियों को निरंतर समृद्ध करते रह सकते हैं।

"खुँजते-खुँजते एत दूर" श्री मित्र की समृद्ध भाव-यात्रा का प्रौढ निदर्शन हैं, जिसमें मानव मन और जीवन के रहस्य को पा लेने की ललक और तलाश दोनों ही दीख पडती हैं। इसकी छोटी-बडी पचासी (85) कविताएँ तीन अनुभागों 'खुँजते-खुँजते एत दूर", "कामिलार दिन रात" और 'प्रदर्शनी" मे विभक्त हैं। इन कविताओं मे समकालीन सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्यों एवं परिस्थितियों की दुहाई या कि हवाला दिये बिना एक प्रकार की स्थितिहीनता की चर्चा की गयी है। शब्दों की ऐसी भारहीन स्थिति में किसी आदर्श, अवधारणा, मुद्रा या कि मूल्यवत्ता की चर्चा किये बिना भी अपने कवि व्यक्तित्व को बनाये रखना कितना जटिल है -

"ओह . . . कैसा होगा वह स्वर्ग
जहाँ न तो बुढ़ापा होगा और ना ही मौत
और जिसकी तरफ तकते-तकते
मोतियाबिंद उभर आया मेरी आँखों में।
मैं अब उठ खडा हुआ
हाथ-पाँव की ढीली पड़ी चूलों को कसने में
थोडी देर तो हुई
लेकिन मैं उठकर खड़ा हो गया . . . आखिरकार
और बाहर भी निकल आया।
और बढ़ चला उस तरफ
जिस तरफ़ की जमीन दरक रही है या कि धँस रही है
इस बात की परवाह करने का मतलब होगा कि मैं रुक जाऊँ
अपने हाथ-पैर घुटने मोड़कर बैठा रहूँ
इससे तो मुझे बड़ी तकलीफ़ होती है महाशय !
जबकि खो गयी हो अमरता
और ज़िंदा रह पाना हो गया हो नामुमकिन

तब बेहतर यही है कि
मैं अपनी तबाही को कम-से-कम
अपनी कसी हुई मुट्ठियों में ही थामकर रखूँ . . . . अच्छी तरह ।"
("मैं निकल आया हूँ" से)

कवि की लड़ाई अपने ही तमाम रूपों, कृतियों और विकृतियों के खिलाफ है । उसने अपनी असहायता या निरर्थकता से अधिक अपनी छोटी-मोटी यात्राओं, उसकी उपलब्धियों की अनदेखी करते हुए और फिर कहीं भी न रुकते हुए नयी दिशाओं की ओर चलते जाने का संकल्प बार-बार दोहराया है । कवि को अपनी सत्ता और भंगुरता का विवेकपूर्ण ज्ञान है उसे पता है । कि इस माटी के पुतले को आरोपित या प्रस्तावित दार्शनिकता से महान नहीं बनाया जा सकता । इसीलिए जैसा कि पहले ही बताया गया, कवि चाहता है नष्ट होने के पहले इसे अपने हाथों विविध रूपों में रचा जाए, मनोहारी रंगों से रँगा जाए ।

इस कवि-संकल्प की साक्षी निम्नलिखित कविता पंक्तियाँ हैं :

"उसकी काया पर न जाने कितने ही रंगों का उत्सव रचा गया है
वह उकेरा गया है हमारी ही तूलिका से
जो एक समारोह की तरह है
जुड़े हैं जिससे एक साथ हज़ारों-हजार पाँव-हाथ
और ढेर सारी मुद्राएँ-भँगिमाएँ
लेकिन खामोश पड़ी हैं शब्दों की प्रतिमाएँ ।
बहुत ज़ोरों से बह रही है हवा
हो रही है, मूसलाधार बारिश,
मैंने सारी दुनिया को दोनों हाथों से जकड़ रखा है ।
लेकिन मेरी एक-एक साँस सहमी हुई है
लगता है सब कुछ धुल-पुँछ कर
और बिखर-छितरकर रह गया
हवाओं के थपेड़ों से सब कुछ

ऐसी ही क्षणभंगुरता के बीच है, मेरा वास ।
("एमनई भंगुरता" से)

इन कविताओं की बहुत बड़ी विशेषता इनका वक्तव्य है । संबद्ध कविताओं की उद्धृतियाँ लंबी कविताओं का अंश होती हुई भी स्वतंत्र प्रतीत होती हैं । इन अंतिम पंक्तियों में कवि ने भाव और बिंब की अन्विति को अपनी उपस्थिति से और प्रामाणिक बना दिया है –

"तुम्हारे पूरी तरह ज़मीन पर गिर जाने के पहले
गोलियों से छलनी तुम्हारे वे भाई-बहन

तुम्हारी मशाल उठाते रखने को तैयार हैं
एक-एक कर समय की सीमाओं को लाँघकर
जब तक बढ़ते चले आयें आगे
तब तक चलती रहे हमारी-तुम्हारी लड़ाई
शून्यता के ख़िलाफ़ ।"

("शून्यतार विरुद्धे" से)

"फूल और फलों की बहार
और साथ ही,
धूप और छाया की झिलमिलाहट भरी आँख मिचौनी
कितना सुख है
क्या कहना इस सुख का।
लेकिन तमाम दुख और तकलीफ़ें
जमा होती रहती हैं जिस सीने में
मैंने देखा है उसे टूटा-फूटा बिखरा-कुचला;
जबकि उसी सिरे से बढ़ती चली आती है सारी शोभा-यात्रा
तभी तो,
मैंने अपना प्रेम सौंप दिया है,
उसी धूल भरी माटी को।"

("वृक्षमूले" कविता से)

अरुण मित्र की ये तमाम कविताएँ एक समर्पित, लंबी अनाम लेकिन स्पष्ट यात्रा में सम्मिलित हैं। कवि ने इस यात्रा में शामिल सहभागियों या कविताओं को कहीं भी गौरवान्वित नहीं किया है, क्योंकि जीवन अपने आप में एक युद्ध है और इसमें अलग से कहीं लड़ाई नहीं लड़नी पड़ती। कवि के शब्दों में :-

"मैं सुन रहा हूँ धूल भरी आहट
स्याह रात के सीने में रुँधे हैं गर्म बगूले
अब हमारी यह यात्रा-
जारी रहेगी,
और गुज़रती रहेगी यह रतजगी यात्रा
किसी वह्नि शिविर में।"

("एक साथ" से)

कवि की कविताओं में जो पीड़ा, यंत्रणा और करुणा है, वह किसी खास वृत्त या परिधि से परिचालित न होकर सार्वजनीन हैं। जीवन के बारे में कवि की परिकल्पना अतीत की युद्ध-मुद्रा, वर्तमान की व्यर्थता और भविष्य के उत्साह से मंडित है। अकारण व्यर्थता-बोध और जीवन की

पराजय ने उसे आत्म-स्वीकार और आत्म-समीक्षा के लिए प्रेरित किया है । वह एक ओर अपनी जीत के लिए एक कुशल व्यूह-रचना में जी-जान से जुटा है तो दूसरी ओर आत्म-परीक्षण के क्षणों को भी जी रहा है :-

"अब
हम सब,
सुरंग से निकल आये हैं बाहर
खिल आयी है अब गुनगनी धूप
हमारी निगाह चली जाती है दूर-दराज तक
और फिर लौटकर बिछल जाती है,
वहाँ, उधर
खेतों की उजली मुस्कानभरी को
चिकनी ढाल पर।
और यहाँ,
सुरंग के पास ही
हमारे पाँव के दोनों तरफ़ खुदी हैं खाइयाँ
तो भी जाना है वहाँ तक . . . . तलवार की धार पर।"

□

छंद, लयावृत्ति और अभिव्यक्ति की नाद-मुद्रा

रामप्रकाश कुशवाहा

छंद के संदर्भ मे आधुनिक हिंदी कविता की प्रमुख त्रासदी यह रही है कि जितनी तीव्रता से छायावादी कविता, प्रगतिवादी कविता, प्रयोगवादी कविता, नयी कविता तथा अकविता आदि विभिन्न काव्यवादों का विकास और प्रचार हुआ उतनी तीव्रता से हिंदी कविता के परिवर्तनीय इतिहास मे छंद प्रवृत्ति की सूक्ष्म पहचान विकसित नहीं की गयी - विशेषतः कविता के समीक्षात्मक उपकरणो के रूप मे।

इसलिये आधुनिक हिंदी-कविता की यह अनिवार्य आवश्यकता होगी कि छंद संबंधी परंपरागत स्थूल, काव्यशास्त्रीय परिभाषाओं को प्रवृत्तियों के रूप मे विश्लेषित करते हुए उनकी युगानुरूप पहचान प्रस्तुत की जाये। जबकि हिंदी में मुक्त-छंद के आदि प्रवर्तक "निराला" के मुक्त-छंद संबंधी चिंतन की सीमा यह है कि वह छंद संबंधी रूढ़-धारणाओं के सापेक्ष विकसित हुई है। इसीलिये वह छंदों की कोई महत्वपूर्ण प्रवृत्यात्मक विवेचन प्रस्तुत नहीं करता। महाकवि निराला की उपलब्धि प्रयोगधर्मी है और कविता में छंद और मुक्त छंद में उन्होने युगांतर उपस्थित किया है किंतु उनकी छंद-व्याख्याता-दृष्टि यथास्थिति परक ही है। ऐसी स्थिति में उन्हें आधार मानकर किसी छंद चिंतन के विकास या निष्कर्ष की भी अपनी सीमायें होंगी। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के बावजूद कि वर्तमान हिंदी कविता श्रौत या गेय न रहकर, मात्र पाठ्य हो जाने से छंदविधान आदि नाद-संस्कारों के प्रति नितांत उदासीन रहकर भी कविता होना सीख गयी है। फलस्वरूप कविता का आकर्षण तत्त्व, उसकी गेयता या उच्चारण-कला न रहकर, कविता में अंतर्निहित घनीभूत तत्त्वों के प्रति संवेदनशील हो गयी है।

वास्तव में छंद अभिव्यक्ति की लयात्मक आवृत्ति के परिणाम होते हैं। जो काव्य-परंपरा में अभिव्यक्ति के किसी निश्चित लय-जड़त्त्व के अस्तित्व की पहचान हो जाने के बाद काव्यशास्त्रियों द्वारा उस लयावृत्ति की विशिष्ट पुनरावर्ती प्रवृत्ति को देखते हुए एक विशेष लय-पद्धति या छंद-विशेष के रूप में स्वीकार ली जाती हैं। इस प्रकार, छंद जहाँ अपने जीवंत और सूक्ष्म अर्थो मे लय की निश्चित आवृत्तियाँ मात्र ही हैं तो नामकरण की युगीन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप अपने रूढ़ अर्थो में कोई विशिष्ट छंद !

यद्यपि यह सच है कि हिंदी कविता में छंद ने अपने ऐतिहासिक परिवर्तन-क्रम में छंद से लेकर मुक्त-छंद तक एक लंबी यात्रा तय की है - फिर भी इस आम सहमति के समानांतर, यदि नयी कविता में छंद-नीति की अद्यतन प्रवृत्तियों को देखते हुए उसे एक नया नाम "स्वच्छंद" दिया जा सके तो यह उसके मूल स्वरूप के अधिक समीप होगा। आधुनिक हिंदी कविता मे छंद के

संदर्भ में यह शब्द "मुक्त" का अत्यंत सार्थक पर्याय माना जा सकता है - "स्वच्छंद" या "स्व-छंद" के रूप में।

वैसे हिंदी कविता की छंद से छंद-मुक्त होने तथा लयावृत्ति की निश्चितता से अनिश्चितता की ओर उसकी यात्रा की यह ऐतिहासिक प्रक्रिया कई चरणों में संपन्न हुई। अपने प्रारंभिक चरण में जहाँ आधुनिक हिंदी कविता रूढ़ आवृत्तियों से मुक्त होकर, नवीन अछूती लयावृत्तियों के साथ, नवीन छंद-रूपों में सामने आयी, वहीं बाद में, आवृत्तियों की निश्चितता से अनिश्चितता की ओर अग्रसारित होती हुई भावानुसरण करती ध्वनि-लय से भाव-लय और अर्थलय के रूप में परिवर्तित हो गयी।

इस प्रकार क्योंकि छंद, अपने वास्तविक अर्थों में अभिव्यक्ति के कुछ निश्चित लयावृत्तियों के ही नाम हैं, अतः यह कहना ठीक नहीं है कि आधुनिक हिंदी कविता एक छंदहीन कविता है। इसके विपरीत, नयी कविता की छंद-प्रवृत्तियों को विश्लेषित करते हुए उसके छंद-मुक्त होने या मुक्त-छंद में होने का अभिप्राय मात्र इतना ही लिया जाना चाहिए कि अभिव्यक्ति की लयात्मकता, आवृत्ति-रूप में न होकर, प्रवाह-रूप में है। ऐसी स्थिति में नयी कविता के एक परंपरागत काव्य-अवयव के रूप में रूढ़-दृष्टियों से छंद-विधान का विश्लेषण करना और उसके यथावत् प्राप्त न होने पर मुक्त छंद का नाम देकर छंदों के न होने की घोषणा कर देना उचित नहीं है। क्योंकि छंदों के न होने पर भी छंद-प्रवृत्तियों का पूरह तरह लोप हो जाना तथ्य-सम्मत नहीं। स्वयं हिंदी में मुक्त-छंद के प्रवर्तक कवि "निराला" ने भी अपने मुक्त छंदों से लय-प्रवृत्ति और लयावृत्ति का पूरी तरह उन्मूलन या खण्डन नहीं किया है। वास्तव में ऐसा है भी नहीं। इसके स्थान पर, उन्होंने अपनी कविताओं में लय की रूढ़ आवृत्तियों की जड़ीभूत प्रवृत्ति को शिथिल करते हुए उसे प्रवाहमय और भावानुकूल जीवंत रूप दिया है।

आधुनिक हिंदी कविता में यह अधिक संभव है कि परंपरागत छंदों की यति ने पंक्ति का रूप ले लिया हो और चरण ने फैलकर पद-बंधों का और छंद ने छोटी कविता के रूप में यहाँ पूरी कविता की ही भूमि हथिया ली हो। जबकि लंबी कविताओं के सहज अभिव्यक्ति क्रम में लयावृत्तियों की अनायास उत्पत्ति, अभी भी छंद प्रवृत्तियों के परिवर्तित अस्तित्व को ही रेखांकित करती है। अंतर सिर्फ इतना ही है कि अब वैसे काव्यशास्त्री ही नहीं रह गये, न ही किसी के द्वारा उनके लिये नया नाम चुनने का प्रयत्न ही किया गया।

जबकि प्रायः सभी कवियों ने अचेतन रूप से ऐसी लयात्मक आवृत्तियों का प्रयोग किया है जो छंद-प्रवृत्ति की समीपवर्ती हैं। यह बात दूसरी है कि कविता के लिये भावानुरुप लय की तलाश में, स्वयं कवियों ने भी उन आवृत्तियों की निश्चितता के प्रति कहीं भी सतर्क रहना आवश्यक न समझा हो। निराला, मुक्तिबोध और धूमिल की लंबी कवितायें इसका प्रमाण हैं, जिनमें मुक्त-छंद में लिखी लंबी कविताओं में भी अचेतन-रूप से छंद-प्रवृति निश्चित आवृत्तियों के रूप में अनायास ही उपस्थित हो गयी है।

उदाहरण के लिये, मुक्तिबोध की 'अंधेरे में कविता' की निम्न पंक्तियाँ, अभिव्यक्ति की पुनरावर्ती लय-जडत्व के कारण ही लगभग 40-50 मात्राओं के समान चरण-युग्मों की सृष्टि करती हैं --

"पर, कार्य क्षमता से वंचित व्यक्ति
चलाता था अपना असंग अस्तित्व ।

सुकुमार मानवीय हृदयों के अपने
शुचितर विश्व के मात्र थे सपने ।"

(चांद का मुंह टेढ़ा है, पृ· 255

इसी प्रकार, "चांद का मुंह टेढ़ा है" कविता की निम्न पंक्तियों में भी प्रायः 12-13 मात्राओं की समान आवृत्ति मिलती है, यद्यपि वह मुक्त छंद में लिखी गयी लंबी कविता है।

"पड़ता है दौड़ जो/आदमी है वह खूब
जैसे तुम भी आदमी/वैसे मैं भी आदमी
बूढी माँ के झुर्रीदार/चेहरे पर छाये हुए
आँखों में डूबे हुए/जिन्दगी के तजुर्बात
बोलते हैं एक साथ/जैसे तुम भी आदमी
वैसे मैं भी आदमी/चिल्लाते हैं पोस्टर।"

(चांद का मुँह टेढ़ा है, पृ· 39)

यही नहीं, स्वयं मुक्त-छंद के प्रवर्तक महाकवि, निरालाजी की लंबी कविताओं "जागो फिर एक बार" और "छत्रपति शिवाजी का पत्र" आदि में भी अभिव्यक्ति के प्रवाह में कवि जहाँ भी सायास मुक्त छंद का शिल्प निरंतर प्रस्तुत करते रहने के प्रति असावधान हुआ है, या यह कहें कि अभिव्यक्ति के आलस्य के कारण स्तर का आरोह-अवरोह अथवा लघु-दीर्घ पंक्तियों की व्यवस्था के प्रति कुछ भी शिथिल हुआ है, वहाँ वह प्रायः निश्चित लयावृत्तियों के रूप में छंद-चेतना के अत्यन्त समीप पहुँच गया है।

उदाहरण के लिये निराला की "जागो फिर एक बार" कविता की निम्न पंक्तियाँ, अपने प्रत्येक चरण-युग्मों में लगभग 22-22 मात्राओं का स्वर विधान करती हैं --

"सवा-सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।'
किसी ने सुनाया यह
वीर जनमोहन, अति
दुर्जय संग्राम-राग
फाग था खेला रण"

(अपरा, पृ· 18)

इस प्रकार, मुक्त-छंद की घोषित कविताओं में भी छंद-विचलन के प्राप्त उदाहरण, कविता में छंद-उद्भव के मूल कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, और प्रकारांतर से फिर किसी नवीन छंद-रूप की अवधारणा के समीप पहुँचा जाते हैं।

वस्तुतः मुक्त-छंद की लंबी कविताओं में भी ऐसी लयावृत्तियों का कारण यही है कि छंद, कविता और भाषा के गायन, पाठन, वाचन या उच्चारण की मुख-सुविधा के भी परिणाम हैं। इस

रूप में किसी कविता में उनका महत्व उतना ही है, जितना कि गद्य में उच्चारण आवृत्तियों की व्याकरणिक व्यवस्था का - वाक्य और वाक्य समूह का। यहाँ वाक्यों को हम छंद-चरणों के सदृश स्वीकार सकते हैं, किंतु वह तत्व, जो गद्य में अर्थ, विचार, भावलय अथवा उच्चारणपूरक स्वर-लय को परस्पर समानधर्मी प्रमाणित करता है - उसका मूल उत्स आवृत्तिमय भाषिक प्रवृत्तियां हैं।

क्योंकि भाषिक इकाई के रूप में वर्ण, शब्द, पद, वाक्य, पैरा आदि का संयोजन गद्य-लेखक भी करता है। किंतु, गद्य में रचनाकार अभिव्यक्ति का प्रवाह और अनुशासन बनाये रखने के लिये प्रायः स्थिर, शांत और मंदलयों का ही प्रयोग करता है और उन्हें अत्यधिक ध्वन्यात्मक आरोह-अवरोह तक नहीं पहुँचने देता। जबकि काव्य-सृजन में अभिव्यक्ति की ध्वन्यात्मक संवेदनशीलता और लयात्मक सौंदर्य-बोध अत्यंत ही बढ जाता है। जिससे उसकी अभिव्यक्ति का ध्वन्यात्मक आरोह-अवरोह अपने चयनित सौंदर्य-क्रम में सांगीतिक माधुर्य की सृष्टि करता है।

वस्तुतः ध्वनि-लय कविता का ही नहीं, अपितु भाषा का ही नैसर्गिक गुण है, जो गद्य में अविकसित या अल्पविकसित बीज-दशा में मिलता है और कविता में अपने विकसित रूप में। इन्हीं कारणों से यदि पंत और प्रसाद आदि अपने छायावादी गद्य में भी काव्य-लयों का प्रयोग और प्रेषण करें तो कोई आश्चर्य नहीं।

वस्तुतः कविता में छंद-उत्पत्ति के मूल कारण तथा उसकी अनिवार्यता और उपयोगिता को तब तक स्पष्ट नहीं किया जा सकता - जब तक कि अभिव्यक्ति से उसके सूक्ष्म अंतःसंबंध को भलीभाँति विश्लेषित न कर लें और इस तथ्य पर भी ध्यान न दें कि ऐतिहासिक रूप से छंद-योजना का काव्य-रूप से भी घनिष्ठ संबंध रहा है। किन दृष्टियों से महाकाव्यों में पूरा का पूरा वर्ग एक ही छंद में लिखे जाने की परंपरा रही है। अपने इस रूप में छंद, कहीं अभिव्यक्ति की नाद-मुद्रा या कथन की विशिष्ट भंगिमा के परिणााम तो नहीं।

ऐसी स्थिति में केशव जैसे आचार्यत्व से भ्रष्ट कवि की अपवाद-चर्चा को छोड दें तो काव्य में छंद-विशेष से प्राप्त अभिव्यक्ति को एक मुद्रा या भंगिमा की सुविधा के लिये ही - बिहारी ने प्रायः दोहों का ही सहारा लिया, सूरदास ने पदों का तो तुलसीदास और जायसी ने अपने प्रबंध-काव्यों में प्रायः दोहों-चौपाइयों को ही अभिव्यक्ति की नाद-मुद्रा के रूप में स्वीकारा। यही नहीं, बच्चन जैसे मधुपायी कवि ने भी अपनी लोकप्रिय कृति "मधुशाला" में अभिव्यक्ति के एक ही छंद रूप को चुना।

इस प्रकार, कविता को सहज और जीवंत परंपरा में छंद, अभिव्यक्ति की एक नाद-मुद्रा ही रही है जिसके अंतर्गत कवि अपने समस्त काव्य-वैभव को व्यवस्थित एवं मूर्त करता है।

निष्कर्ष रूप में, छंदों को मात्र कुछ निश्चित मात्राओं और वर्णों के रूप में ही नहीं देखा जा सकता। न ही उन्हें सम, अर्द्ध-सम या विषम कहकर ही मुक्ति पाई जा सकती। इसलिए उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए यह अत्यंत आवश्यक होगा कि छंदों के प्रति अपनी रूढ़ और जड़ दृष्टि-विन्यास में परिवर्तन उपस्थित करते हुए उन्हें लयावृत्ति के रूप में नये सिरे से पारिभाषित किया जाय और उसके आधार पर छंद को, मुक्त-छंद को जीवंत तथा प्रवहमान काव्य-प्रवृत्ति के रूप में बिलकुल नयी दृष्टि से नयी पहचान के साथ मूल्यांकित किया जाय।

□

अंक-दृष्टा

प्रताप सहगल

पात्र

कुलपति	जस्टिस सुंदरम्
सचिव	चेंगलवरयन
सदस्य एक	अम्मा
सदस्य दो	कृष्णास्वामी
सदस्य तीन	रामानुजन
सदस्य चार	हार्डी

दृश्य - एक

सभागार । कुल सात लोग एक-एक करके आते हैं, कुछ आसन खाली हैं कुलपति आकर अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठते हैं और हर तरफ नज़र घुमा कर देखते हैं । उनके साथ उनका सचिव भी है जो पीछे ही एक कुर्सी पर बैठ जाता है ।

कुलपति - हूँ . कोरम तो पूरा है ।

सचिव - यस सर ! (कहकर एक फाइल कुलपति के सामने रख देता है)

कुलपति - हूँ . . । माननीय सदस्यो । आज सिंडीकेट की यह असाधारण बैठक एक असाधारण मसले पर विचार करने के लिए बुलाई गयी है, जैसा कि एजेन्डे से आपको कुछ अनुमान हुआ ही होगा ।

एक सदस्य - कुलपति महोदय । विस्तार से बताइए ।

कुलपति - हूँ . . रामानुजन के नाम और काम को थोडा बहुत हम सभी जानते हैं, गणित अध्ययन बोर्ड के सामने भी वह काम पेश हुआ तो बोर्ड ने सिफारिश की है कि रामानुजन को अनुसंधान के लिए छात्रवृत्ति दी जाए ताकि वे विलायत में जाकर अपने शोध पूरे कर सकें ।

सदस्य एक - इसमें असाधारण बात क्या है !

कुलपति - असाधारण बात है !
(सभी सदस्य उत्सुकतापूर्वक कुलपति की ओर देखते हैं) बात यह है कि उम्मीदवार की शिक्षा नियमों के अनुसार नहीं है ।

सदस्य दो - तब नियमानुसार उन्हें छात्रवृत्ति नहीं दी जा सकती।

सदस्य तीन - मामला इतना सरल होता तो इस बैठक की ज़रूरत ही नहीं थी, श्रीनिवास रामानुजन के पर्चे मैंने पढ़े हैं उनका और काम भी देखा है। मेरे विचार में तो यह छात्रवृत्ति देकर हम अपने पर ही उपकार करेंगे।

सदस्य दो - ऐसा ऽऽऽ तो फिर नियमों का मतलब ?

सदस्य तीन - नियमों में हमें नहीं उलझना चाहिए। प्रो अय्यर, प्रो· ग्रिफिथ और प्रो· हार्डी तक ने उनके काम की प्रशंसा की है।

सदस्य एक - कुलपति महोदय ! पर हम नियमों से हट कर तो कुछ कर नहीं सकते।

सदस्य तीन - क्यों नहीं . . ?

सदस्य एक - (बात काटते हुए) इसलिए कि हम पर सीधा पक्षपात का आरोप लगेगा।

सदस्य तीन - लेकिन कुलपति महोदय ! हम गणित बोर्ड की सिफारिश पर ही कार्यवाही कर रहे हैं। इसमें पक्षपात कैसा !

कुलपति - मेरी राय में भी नियमों के चक्कर में रामानुजन के टैलेंट को बढ़ने से रोकना नहीं चाहिए।

सदस्य एक - प्रतिभा को कौन बाँध सकता है, वो तो यहाँ भी अपना काम कर सकती है।

सदस्य चार - हाँ, फिर कल किसी और की सिफारिश होगी, परसों किसी और की, तब हम क्या करेंगे ?

कुलपति - तब भी विचार करेंगे।

सदस्य चार - मेरी राय में आने वाले खतरों को नजर अंदाज करना ठीक नहीं।

सदस्य तीन - गणित के क्षेत्र में रामानुजन की योग्यता आज . . . .

सदस्य दो - नहीं, नहीं, मैं उनकी योग्यता पर संदेह नहीं कर रहा।

सदस्य एक - योग्यता का प्रश्न तो है ही नहीं . . प्रश्न तो यह है कि छात्रवृत्ति प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार एम ए. पास होना चाहिए . . . . . वही नहीं है।

कुलपति - ठीक है, नियम तो यही कहता है, पर . . .

सदस्य एक - बस जब नियम यही कहता है तो बात खत्म । (थोडी देर सन्नाटा)

सदस्य तीन - (थोड़ा अचकचाते हुए) सिंडीकेट के सदस्यों का ध्यान मैं कुछ और बातों की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ ।

सदस्य एक - जब बात खत्म तो कैसी बात . . . . .

सदस्य तीन - अध्यक्ष महोदय ! अनुमति दें . . . . .

कुलपति - हाँ कहिए ।

सदस्य तीन - यही कि रामानुजन की सिफारिश मौसम विभाग के डायरेक्टर ने भी की है और रायल सोसायटी के फैलो डॉ· गिलबर्ट वाकर ने भी . . . . .

सदस्य एक - सिफारिश की बात तो खत्म हुई न !

सदस्य तीन - मैं अध्यक्ष से बात कर रहा हूँ ।

सदस्य एक - मैं भी

सदस्य तीन - आप थोडी देर चुप रहेंगे।

सदस्य एक - हमारा समय खराब न करें

सदस्य तीन - इतनी गम्भीर बात है और आपका समय . . . . खराब हो रहा है . . . . कैसी बेतुकी बात . . .

सदस्य एक - अध्यक्ष महोदय ! यह मेरा अपमान कर रहे हैं।

कुलपति - यहाँ कोई किसी का अपमान नहीं कर रहा ।

सदस्य एक - यह अपने शब्द वापिस लें

सदस्य तीन - लेता हूँ . . . . आप सुनें तो . . . .
(अध्यक्ष संकेत से बैठने को कहता है)
हाँ तो मैं कह रहा था प्रो· हार्डी ने भी रामानुजन के काम को रोचक और महत्वपूर्ण कहा है . . . . . और अब मुझे यह बताने की जरुरत तो नहीं कि गणित की दुनिया में आज प्रो· हार्डी की क्याा जगह है।

सदस्य एक - तो फिर यह नियम आखिर है किसलिए ?

सदस्य दो - पर किसी की प्रतिभा एम. ए. की डिग्री से कहीं ज्यादा हो तो . . . . ।

सदस्य एक - नियमों में इस बात का कही कोई उल्लेख नहीं है ! अब बैठक खत्म कीजिए और हमें जाने दीजिए . . . .

सदस्य तीन - (सदस्य चार के कान में प्रकट) सब्जी ले जाने में देर हो रही है . . . पत्नीडाँटेगी
(दोनों मुस्कराते हैं)

कुलपति - जस्टिस सुन्दरम् । आप क्या कहते हैं।

जस्टिस सुन्दरम् - नियम तो हैं, पर इस झमेले में हम गणित का, रामानुजन का और अपना ही नुकसान कर रहे हैं।

सदस्य एक - पर नियम तो नियम है।

सदस्य तीन - परंपरा भी तो है

सदस्य एक - ऐसी कोई परंपरा हमारे सामने नहीं हैं।

सदस्य तीन - नहीं है तो बनाते हैं, आज ही, अभी . . .

कुलपति - इस बहस से कोई नतीजा नहीं निकलेगा जस्टिस सुन्दरम् ! बताइए ! ऐसी स्थिति में हम क्या करें ।

जस्टिस सुन्दरम् - एक रास्ता तो है ।
(सभी की आँखों में उत्सुकता भाव झलकता है)

कुलपति - बताइए तो !

जस्टिस सुन्दरम् - देखिए मद्रास विश्वविद्यालय एक एक्ट के तहत बना है और इस एक्ट के तहत शोध. . . .अनुसंधान को बढ़ावा देना हमारे विश्वविद्यालय का एक कर्तव्य है . . . . अब जब हम उसी कर्तव्य को पूरा करने की राह पर चलते हैं तो विश्वविद्यालय के नियम उसमें रूकावट डालते हैं । यह नियम भी विश्वविद्यालय ने ही बनाए हैं . . . . तो जो नियम विश्वविद्यालय के एक्ट के उद्देश्यों को पूरा करने में अड़चन डालते हैं, उन्हें अनुचित समझा जाना चाहिए।

सदस्य एक - तो क्यों न नियम ही बदला जाए ।

जस्टिस सुन्दरम् - वो भी एक रास्ता है, पर लंबा . . . और फैसला हमें आज ही लेना है ।

सदस्य एक - रामानुजन कोई भूखों तो मर नही रहा . पोर्टट्रस्ट में अच्छा-भला क्लर्क है . . . . थोडा इंतजार तो कर ही सकता है ।

कुलपति - जस्टिस सुन्दरम् की राय कानूनी तौर पर तो सही लगती है और मानवीय भी . (सदस्य एक से) आप अपना हठ छोड़ें और इसे स्वीकार कर लें।

सदस्य एक - (इधर-उधर देखता हुआ कि अब कोई उसका साथ नहीं दे रहा) ठीक है। ठीक है।

कुलपति - तो सिंडीकेट यह तय करती है कि रामानुजन को कैम्ब्रिज जाकर अपना अनुसंधान जारी रखने के लिए छात्रवृत्ति दी जाए। वे हर तीन महीने बाद अपने काम की रिपोर्ट विश्वविद्यालय को भेजते रहे

(तालियाँ)

(दृश्य लोप)

दृश्य दो

(रामानुजन का घर टूटा-फूटा अस्त-व्यस्त)

चेंगलवरयन - अम्मा। अब मान भी जाओ न यह अपना कृष्णास्वामी भी श्रीनिवास के साथ जाने को तैयार है ।

अम्मा - बहुत कठिनाई है ।

कृष्णास्वामी - कितनी मुश्किल से मिली है स्कालरशिप श्रीनिवास। तू बोलता क्यों नही।

रामानुजन - क्या बोलूँ बडी अम्मा ने तो नामगिरि की रट लगा रखी है वो नाराज हो जाएँगी

कृष्णास्वामी - ऐसा क्या ?

अम्मा - हाँ। इसे जो करना है, यहीं करे अपने देश में ।

चेंगलवरयन - नामगिरि देवी को हम मना लेंगे

अम्मा - सो कैसे।

चेंगलवरयन - उसकी आराधना करेंगे . . . . . प्रसाद चढ़ाएँगे

कृष्णास्वामी - देखो न अम्मा। अब तो प्रो· हार्डी ने भी खत लिखा है . . . कैम्ब्रिज से भी एक स्कालरशिप मिल रही है ।

अम्मा - सो तो सब ठीक है, पर जब तक अम्मा मानेंगी नहीं, यह नहीं जा सकता।

कृष्णास्वामी - हैं कहाँ बड़ी अम्मा ?

अम्मा - वो तो नामगिरि देवी के मंदिर में !

कृष्णास्वामी - अब क्या करें।

चेंगलवरयन - कहती क्या हैं।

अम्मा - यही कि सात समुंदर पार जाना. . यह तो पाप है . . और फिर सोचो मलेच्छों के देश में. . . . वहाँ खाने को मिलेगा भी क्या . . .मांस, अंडे . धर्म तो भ्रष्ट हो गया न। नामगिरि रक्षा करे ।

चेंगलवरयन - मैं अभी आता हूँ।

कृष्णास्वामी - कहाँ चला ।

चेंगलवरयन - कहा न, आता हूँ अभी
(चला जाता है)

कृष्णास्वामी - तू बोल, अब क्या कहता है।

रामानुजन - पहले तो डर था, पर प्रो हार्डी के खत से डर खत्म पर बड़ी अम्मा को कौन समझाए!

कृष्णास्वामी - बस हम लोगों की यही दिक्कत है . . . .छोटी-छोटी बातों के पीछे पड़े रहते हैं कुछ हासिल नहीं होता . . . हमेशा पीछे देखते हैं, पीछे रहते हैं

अम्मा - बड़ी-बड़ी बातें छोड . बोल क्या खाएगा।

कृष्णास्वामी - कुछ नहीं 250 पौंड की स्कालरशिप! काश मुझे मिली होती अम्मा! तू ही समझा न बड़ी अम्मा को . .

अम्मा - पर श्रीनिवास का क्या भरोसा।

रामानुजन - क्या कहती हो अम्मा।

अम्मा - तुझे विश्वास है तू मांस मछली नहीं खाएगा।

रामानुजन - नहीं।

अम्मा - शराब नहीं छुएगा?

रामानुजन - बिलकुल नहीं

अम्मा - तो खाएगा क्या?

रामानुजन - अपनी रसोई खुद तैयार करूँगा ।

अम्मा - और जो वहाँ इतनी सर्दी होती है।

रामानुजन - कुछ तो प्रबंध हो जाएगा।

अम्मा - पर इन मलेच्छों का क्या भरोसा!

रामानुजन - यूँ तो यहाँ भी कोई खाने लगे तो . ?

अम्मा - वो तो है . फिर भी मन डरता है बेटा!

रामानुजन - कुछ दिनों बाद तो कृष्णास्वामी और चेंगलवरयन भी पढ़ने के लिए वहीं आने वाले हैं।

अम्मा - वो तो ठीक है, पर तेरी नानी को कैसे मनाऊँ. . . . .
(तभी चेंगलवरयन भागते हुए प्रवेश करता है)

चेंगलवरयन - (हाँफते हुए) मान गयी, बड़ी अम्मा मान गयी
(रामानुजन और कृष्णास्वामी उछलते हैं। अम्मा के मुख पर खुशी फैल जाती है)

रामानुजन - मान गयीं . . . कैसे. . . .

चेंगलवरयन - मैंने जाकर पाँव पकड़ लिए. . . . . तो बड़ी अम्मा ने पता है क्या कहा ।

अम्मा - बोल भी ।

चेंगलवरयन - कहा, रात नामगिरि देवी उनके सपने में आयी थीं और उसने आज्ञा दे दी . . . .इसीलिए बड़ी अम्मा आज जल्दी ही मंदिर चली गयीं . . . और फिर जब मैंने यह बताया कि जल्दी ही मैं और कृष्णा स्वामी भी जाने वाले हैं तो बस कर दी हाँ ।

अम्मा - अम्मा हैं कहाँ ?

चेंगलवरयन - वो आ रही है जानकी भाभी भी उनके साथ हैं मैं तो भागा आया . . अम्मा अब तू भी दे आशीर्वाद ।

अम्मा - मेरा आशीर्वाद तो तुम सब को . . .पर श्रीनिवास ! इन मलेच्छों से जरा बचकर ही रहना अपनी रसोई खुद ही बनाना ।

चेंगलवरयन - हाँ, हाँ . . . . .यही होगा बड़ी अम्मा ने भी सब समझा दिया है ।

अम्मा - जानकी साथ जाएगी ?

चेंगलवरयन - अभी तो नहीं . . . . श्रीनिवास. . . . चल हो जा तैयार (रामानुजन की पीठ पर हाथ मारता है) ।

दृश्य लोप

दृश्य तीन

लंदन में एक सुव्यवस्थित कमरा

रामानुजन कुर्सी-मेज पर बैठा काम कर रहा है । सामने कॉफी पड़ी हुई है प्रकाश फैलने के क्षण भर बाद घंटी बजती है । रामानुजन उठकर दरवाजा खोलता है

रामानुजन - (दरवाजा खोलते ही) अरे कृष्णा स्वामी ! चेंगलवरयन ! पूरा एक साल लगा दिया आने में ।

कृष्णास्वामी - साल से कुछ कम । हमने तय किया था, जाएँगे तो एक साथ तेरे . . . क्या हाल हैं

रामानुजन - बस काम ही काम . . . अम्मा कैसी हैं ।

कृष्णास्वामी - ठीक हैं ।

रामानुजन - और जानकी ।

चेंगलवरयन - उदास रहती हैं ।

रामानुजन - मज़ाक छोड़ो ।

चेंगलवरयन - ठीक ही तो कह रहा हूँ . . . (थैले से कटोरदान का डिब्बा निकालते हुए) यह देख . . . . देख भाभी ने तेरे लिए खास चीज़ भेजी है ।

कृष्णास्वामी - और अम्मा ने भी (कृष्णास्वामी अपने थैले से कांस का एक डिब्बा निकालता है)।
(रामानुजन दोनों से लेकर खोलता है फिर रख देता है)

रामानुजन - वाह! बड़े दिनों पर घर बनी खाने की चीज़ मिली है ।

कृष्णास्वामी - तो यहाँ क्या खाता है।

रामानुजन - खाने की तो बड़ी परेशानी है। ठण्ड भी बहुत है ।

कृष्णास्वामी - तो भाभी जी को बुला ले न!

रामानुजन - तो हो लिया काम।

कृष्णास्वामी - ऐ ऐ ऽऽ क्या बात करता है . . . भूल गया समुद्र किनारे की वो शाम . जब . . . .

रामानुजन - छोड़ो यार! यहाँ तो काम ही काम है।

चेंगलवरयन - प्रो हार्डी मिलते हैं।

रामानुजन - रोज। बहुत ही अच्छे हैं। प्रो॰ बेरी, प्रो॰ लिटिलवुड सभी बहुत अच्छे हैं। बड़ी अम्मा कैसी हैं।

चेंगलवरयन - वो तो अब सारा दिन नामगिरि के मंदिर में ही रहती हैं यह खत भिजवाया है तेरे नाम (खत देता है रामानुजन पढ़ता है और थोड़ा गंभीर हो जाता है)

चेंगलवरयन - क्या हुआ ?

रामानुजन - बड़ी अम्मा ने भी जानकी की बातें लिखी हैं ।

चेंगलवरयन - तो बुला ले ना।
(कृष्णास्वामी पत्रिकाएँ पलटने लगता है)

रामानुजन - यह मुमकिन नहीं ।

चेंगलवरयन - पर अब तो तेरी स्कालरशिप भी बढ़ गयी है।

रामानुजन - कैम्ब्रिज से तो पूरी छूट है ।

चेंगलवरयन - मद्रास यूनिवर्सिटी ने भी 250 पौंड और बढ़ा दिए हैं।

रामानुजन - इसलिए तो सोचता हूँ . . प्योर मैथेमैटिक्स में अभी काम करने का वक्त आया है।

कृष्णास्वामी - वो तो तुम जोरदार कर रहे हो।

रामानुजन - तुम्हें कुछ पता भी है।

कृष्णास्वामी - तुम्हारी सारी खबरें मिल जाती हैं।

रामानुजन - अच्छा। मेरे दिमाग में भी आजकल बस अंक नाचते रहते हैं । संख्याएँ बनती हैं, कटती हैं, फिर खड़ी होती हैं . . . . कई-कई रूप . . . ऐसे में जानकी तो बोर हो जाएगी . . बस यह काम पूरा हो जाये तब सोचूँगा! काफी बनाऊँ ?
(तभी फिर घंटी बजती है)

रामानुजन - (दरवाज़ा खोलकर) आप सर! गुड इवनिंग सर . . . . .आइए ।
(प्रो हार्डी अंदर आते हैं)

आप मेरे दोस्त कृष्णास्वामी!

कृष्णास्वामी - गुड इवनिंग!

हार्डी - गुड इवनिंग।

रामानुजन - और आप चेंगलवरयन।

चेंगलवरयन - गुड इवनिंग।

हार्डी - गुड इवनिंग।

रामानुजन - और आप हैं प्रो. हार्डी।

(कृष्णास्वामी और चेंगलवरयन स्तंभित से खड़े हो जाते हैं)।

दोनों - गुड इवनिंग सर।

हार्डी - गुड इवनिंग। गुड इवनिंग। बैठिए आप .

कृष्णास्वामी - हमने कैम्ब्रिज ज्वाइन किया है ।

हार्डी - गुड!

कृष्णास्वामी - हमारा सौभाग्य सर कि आप से मुलाकात हो गयी . . . रामानुजन हमारा बचपन का दोस्त है ।

हार्डी - ओह! वेरी इंटैलीजैंट! जीनियस है आप का दोस्त .

कृष्णास्वामी - यस सर! हम तो इसे बचपन से देखते हैं तब यह चौथी कक्षा में था सर जब इसने मैजिक स्कवेअर बनाने शुरु किए.

चेंगलवरयन - हम सब हैरान होते थे ।

हार्डी - मैं तो इनकी तुलना ऊलर और जैकाबी से करता हूँ। प्योर मैथमेटिक्स में वंडरफुल ब्रेन। आपका किसमें इंटेरेस्ट है

चेंगलवरयन - विषय तो हमारा भी गणित ही है सर . कोशिश कर रहे हैं कि श्रीनिवास सा कुछ हम भी करें ।

हार्डी - गुड। गुड। आज जानते हैं क्या हुआ . प्रो. बेरी इलिप्टिक इंटीग्रल पढ़ा रहे थे, उसी का कोई सवाल था तो वे उसे बने बनाए फार्मूले से हल करने में लगे हुए थे हाँ यह मुझे प्रो. बेरी ने ही बताया कि इसी बीच आप का यह दोस्त रामानुजन खड़ा हो गया, बोला सर मैंने सवाल हल कर लिया . प्रो. बेरी ने देखा – हैरान . . बस . जवाब बिलकुल सही था . . इसीलिए मैं आज पूछने चला आया क्यों रामानुजन! तुमने वह हल कैसे हासिल किया।

रामानुजन - यह तो मालूम नहीं ।

हार्डी - क्या मतलब।

रामानुजन - बस सर, एक फ्लैश सी हुई और हल सामने था

हार्डी - पर कोई तरीका तो होगा न!

रामानुजन - अब तरीका तो पता नहीं . कोशिश कर रहा हूँ ढूँढने की!

हार्डी - क्या?

रामानुजन - तरीका। पर अभी तो मैं कुछ भी व्याख्या नहीं कर सकता ।

हार्डी - बस, यही दिक्कत है आपके दोस्त के साथ .मैं तो इसीलिए इन्हें एक एनगिमा कहता हूँ.... एनगिमा इन मैथमैटिक्स।

चेंगलवरयन - यहाँ भी वही सब हो रहा है

हार्डी - क्या... मुझे भी तो बताओ।

चेंगलवरयन - सर, हम तो बचपन से इसे देख रहे हैं.....यह ऐसे ही काम करता है ....बात करते-करते खो जाएगा ..हमें याद है एक दिन यह पूरी रात समुद्र किनारे घूमता रहा, कई बार चारपाई के नीचे घुसकर काम करता रहता था ...एक बार तो.... एक बार तो... (हँसने लगता है)

हार्डी - व्हाट हैप्पनड्।

चेंगलवरयन - स्वामी, तुझे याद है न एक दिन यह सवाल हल करने में लगा था .. तब सर इसकी उम्र होगी कोई दस-बारह साल. कुछ बच्चे आए उन्होंने इसे बुलाया कि खेले .पर यह तो था दूसरी ही दुनिया में .. बच्चों को शरारत सूझी. उन्होंने छोटे-छोटे कंकर उठाकर इसके अंडरवियर में डाल दिए सर। पर यह तब भी नहीं हिला.. लगा रहा लगा रहा

हार्डी - ओह माई गॉड! (हँसने लगता है)

कृष्णास्वामी - पता नहीं तब से अब तक इसने कितनी ही नोटबुक लिख मारी .. अब पुरानी हो गई सड़ी-गली।

हार्डी - वो तो मेरे पास हैं।

कृष्णास्वामी - सर अपनी तो कुछ समझ में आया नहीं .....आप

हार्डी - हाँ, कोशिश कर रहा हूँ उन्हें समझने की .. जिन्हें आप गली-सड़ी कह रहे है श्रीनिवास। आज नो कॉफी!

रामानुजन - अभी बनाता हूँ सर! इडली सांभर लेंगे सर?

हार्डी - ओह नो। बहुत मिर्च होता है
(रामानुजन चला जाता है)।
आपका यह दोस्त कमाल का आदमी है .. अभी तो यह प्रो लिटिलवुड के साथ काम कर रहा था .. (तभी हवाई जहाजों के निकलने की तेज़ आवाज आती है थोड़ी ही देर में दूर कहीं बम फटता है..) सुना . वार.. .हालत खराब होने वाली है ... हाँ तो प्रो लिटिलवुड ... अब तो वह फ्रंट पर है.. पर मैंने उन्हें बताया कि रामानुजन को किसी और छात्र की तरह से बढ़ाना ठीक नहीं .... यू नो वाई!

कृष्णास्वामी - आप बताइए न!

हार्डी - यू नो! कुछ चीजें हैं जो मैथमैटिक्स में साबित हो चुकी हैं पर योर दिस फ्रैंड रामानुजन। ही इज प्रूविंग देम इन ए डिफरैंट वे.. तो इसे कुछ मत बताइए अपना काम करने दीजिए... इसके पास कोई

तीसरी आँख है, जो इसे कुदरत ने दी है . . . तो हमें उसका फायदा उठाना चाहिए . . . व्हाट डू यू से ?

दोनों - वैरी राइट सर!

हार्डी - और मुझे लगता है यह इसकी सुपर क्रियटिविटी का टाइम है

कृष्णास्वामी - यानी और भी कोई बड़ी बात।

हार्डी - हां, कोई ऊँची बात . . . ही इज रियली ए मीअर ऑफ मैथेमेटिक्स।

चेंगलवरयन - यू मीन साधू।

कृष्णास्वामी - नो . . . . . ही मीन्स दृष्टा।

हार्डी - क्या . . . . . क्या कहा

कृष्णास्वामी - दृष्टा सर!

हार्डी - क्या मतलब है इस शब्द का।

कृष्णास्वामी - ए पर्सन हू कुड सी बियोंड परसैप्शन।

हार्डी - वैरी राइट . . . यही . . . . तो एक दृष्टा ओर आपके भारत में पैदा हुआ है।

(रामानुजन ट्रे में कॉफी के चार प्याले लेकर आता है)

रामानुजन - कॉफी सर।

हार्डी - हाँ, आप लोग . . .

(सभी कॉफी लेकर पीने लगते है)

वैरी फाइन काफी, श्रीनिवास

कृष्णास्वामी - बैठो यार! तुम्हारी ही चर्चा हो रही है सर . . . कुछ और बताइए न!

रामानुजन - मेरे सामने नहीं।

कृष्णास्वामी - अरे क्या फर्क पडता है . बताइए सर।

हार्डी - हाँ तो मैं कह रहा था रामानुजन प्लेज़ विद नम्बर्स। रामानुजन का मानना है कि हर नंबर यानी हर अंक या हर संख्या की अपनी प्रापर्टी है . . . . कुछ ताकत है . समपावर . . . . .

चेंगलवरयन - यू मीन न्यूमरालॉजी सर। यह तो यह बचपन से कहता है।

हार्डी - नहीं, नहीं मेरा मतलब वह नहीं है। रामानुजन के कहने के मुताबिक हर अंक के कुछ गुण होते हैं। जैसे जो संख्या नौ से कटती है, उस संख्या का जोड भी नौ के अंक से कट जाता है। जैसे 27 या 36 या 45 यह संख्याएँ नौ से कटती हैं, तो इनका जोड़ भी कटता है . . . .

कृष्णास्वामी - यह तो दिलचस्प बात है सर . . . .

चेंगलवरयन - पर सर . जीवन में इसका कोई फायदा है ?

हार्डी - वेरी इन्टरस्टिंग क्वैरी! बहुत लोग यही सोचते हैं कि प्योर मैथमैटिक्स का हमारे जीवन में कोई इस्तेमाल, कोई रलेवेन्स . . . आई मीन . . .

कृष्णास्वामी - उपयोगिता।

ार्डी - हाँ, वही . . . इसकी कोई वही . . . आई मीन रेलेवेन्स वैसे तो नहीं पर मुझे लगता है आने वाले कल में यही हमारे जीवन और विज्ञान में बिल्कुल नए रास्ते खोल देगा . . . ओह कॉफी खत्म . . . (फिर हवाई जहाज़ निकलने की तेज आवाज़) अब चलना चाहिए . . . पूरे ब्लैक आउट का समय भी होना वाला है . . . पता नहीं यह महायुद्ध हमें कहाँ ले जाएगा . . . गुड नाइट यंगमैन।

ाभी एक एक

रके - गुड नाइट सर!

(हार्डी चला जाता है)।

ृष्णास्वामी - प्रो हार्डी तो बड़े ही दिलचस्प आदमी हैं . . .

ंगलवरयन - और कितनी सादगी और सफाई से श्रीनिवास के बारे में कितना बता दिया . . . हाँ तो अब तू भी कुछ बोल ?

ामानुजन - कुम्भकोणम के क्या हाल हैं।

ंगलवरयन - बस जब तुम्हारी खबर नहीं मिलती तो उदास हो जाते हैं और जब पता चलता है कि तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं तो परेशान होते हैं . . . कहते हैं वापिस बुला लो।

मानुजन - कुमार मंगलम्, सीतारमण और वेंकटेश्वरन . . .

गलवरयन - सब मजे में हैं . . . समुद्र किनारे जाते हैं तो तेरी बड़ी याद आती है . कितनी गप्पें लगाते थे।

ष्णास्वामी - और वो जो एक दिन ट्राम पर चढ़ते हुए तेरी टोपी उड गयी थी।

मानुजन - अम्मा ने कितना डाँटा था . . . टोपी फिर बन ही नहीं सकी . क्या वक्त था वह भी . . . कागज़ खरीदने के लिए पैसे नहीं .

ष्णास्वामी - तब भी तूने कितना काम कर लिया।

मानुजन - यहाँ तो बहुत काम है पर यह तो जंग छिड़ गयी है न, सब गड़बड हो रहा है . . . यह बारूदी धुआँ मुझे बहुत परेशान करता है

ष्णास्वामी - सर्दी भी बहुत है।

मानुजन - सर्दी कड़क! फिर खाने को बस आलू।

लवरयन - अभी घूँट वूँट मारना शुरू नहीं किया क्या ?

ानुजन - स्वामी! तू ही समझा इसे, क्या बोलता है। धर्म भ्रष्ट करेगा क्या!

लवरयन - मजाक छोड, कुछ नए मैजिक स्क्वेयर भी बनाए क्या ?

ानुजन - हाँ, पर इधर मैंने संख्याओं के विभाजन पर कुछ काम किया है।

ष्णास्वामी - हाँ, इस बारे में तुम्हारा एक पर्चा भी किसी मैगज़ीन में देखा तो था . क्या था भला उसमें।

ानुजन - मैं बताता हूँ . . . हम एक संख्या को कई तरह से लिख सकते हैं।

लवरयन - यानी?

ानुजन - मिसाल के तौर पर चार। चार को हम पॉच तरह से लिख सकते हैं . . . जैसे 4+0, 3+1, 2+2, 2+1+1 और 1+1+1+1 इसी तरह से

एक्सैसिव नंबर एण्ड डिफैक्टिव नंबर हैं। 6 और 28 जैसे प्रफैक्ट नंबर्स हैं इसके अलावा मैंने कुछ प्राइम नंबरों यानी मूल अंकों का पता लगाया है ये हैं 3,5,7,11

चेंगलवरयन - यानी..

रामानुजन - ये वे नंबर हैं जो इनडिविजिबल यानी इनका विभाजन नहीं हो सकता । इसके अलावा टैन्जेन्ट फंक्शन, गामा फंक्शन और थीटा फंक्शन पर भी मैंने काम किया है ।

कृष्णास्वामी - कुछ हमारे लिए भी छोड़ोगे ?

चेंगलवरयन - हमें भी तो कोई एरिया बताओ यार, जहाँ कुछ गुँजाईश हो तो थोड़ा-बहुत नाम हम भी कमा लें ।

रामानुजन - वो तो बहुत है । हाँ, एरिया से मुझे याद आया कि बेतरतीब जमीन के टुकड़े का क्षेत्रफल जानने के लिए मैंने डाइवरजेंट सीरीज पर काम किया है।

चेंगलवरयन - चाहे वह टुकड़ा कैसा भी टेढा-मेढा हो।

रामानुजन - हाँ।
(सायरन बजता है) लो ब्लैक आउट का समय हो गया। रोशनी धीमी हो जाती है।

कृष्णास्वामी - बात तो कर सकते हैं न।
(तभी हवाई जहाज गरगराते हुए निकल जाते हैं) बडा खतरनाक वक्त है। यार यहाँ ही बम न गिर जाए।

रामानुजन - अभी तक तो ऐसा नहीं हुआ।

चेंगलवरयन - पर हो तो सकता है . . . कहाँ आकर फँस गए।

रामानुजन - कहीं भी, कुछ भी हो सकता है।

कृष्णास्वामी - तुम अपनी बात जारी रखो, यह तो बचपन का डरपोक है।

चेंगलवरयन - अच्छा जहाज पर चढ़ने से तुम डर रहे थे, समुद्री लहरों से तुम घबरा रहे थे और डरपोक मैं .यह बू कैसी आ रही है।

रामानुजन - बारूद की है यह तो सारे माहौल में है
(दो-तीन बार खाँसता है)।

कृष्णास्वामी - 'एपराक्सीमेशन और पाई' के बारे में भी तो तुमने कुछ किया है।

रामानुजन - पढ़ा।

कृष्णास्वामी - हाँ, तो पर्चा मुझे सैंडो ने लाकर दिया पर पाई की वैल्यू की बात जो तुम करते हो, तो वह तो आर्य भट पहले ही दे चुका है। आर्य भट ने पाई की जो वैल्यू दी है, वह सही नहीं है।

कृष्णास्वामी - और तुम्हारी ?

रामानुजन - सही के बहुत करीब है।

कृष्णास्वामी - यह तो वक्त ही बताएगा।

रामानुजन - कल के बारे में मैं कुछ नहीं जानता, पर अभी तो यही ठीक है ।

चेंगलवरयन - चलो अब सो जाओ . . . .बाकी कल

कृष्णास्वामी - तू सो जा . . . . .श्री निवास ! खाने का क्या होगा।

रामानुजन - राशन है आलू तो मिलेगा।

कृष्णास्वामी - सम ऑफ स्क्वेअर्स और पार्टीशन ऑफ नंबर्स पर भी तूने कुछ किया है ।

रामानुजन - हाँ, वो भी है लगा हूँ कि कुछ और बडा काम हो जाए।

चेंगलवरयन - बाप रे, अभी और बड़ा
(हवाई जहाज बम फेंकते हुए निकल जाते हैं। कुछ धुआँ अंदर आता है। रामानुजन खाँसने लगता है)

रामानुजन - ओ . . .यह बारुदी धुआँ तो मेरी जान ले लेगा
(ज़ोर से खाँसने लगता है। कृष्णास्वामी और चेंगलवरयन दोनों उसे पकड़ते हैं उसकी पीठ पर हाथ फेरते हैं और धीरे से एक ओर बिस्तर पर लिटा देते हैं)

कृष्णास्वामी - श्रीनिवास! क्या हुआ

रामानुजन - कुछ नहीं . . पानी !

कृष्णास्वामी - डाक्टर बुलाएँ।

चेंगलवरयन - अस्पताल ले चलें ।

रामानुजन - इस ब्लैक आउट में . . . अभी सो जाओ . यह दवा दे दो . हाँ यहीं . . . कल देखें . .
(रामानुजन दवा खाकर लेट जाता है)
तुम लोग कुछ खा लो .
(धीरे-धीरे प्रकाश और मंद हो जाता है)

(दृश्य लोप)

दृश्य चार

अस्पताल। एक बिस्तर पर बीमार रामानुजन लेटा हुआ है। उसके पास ही कृष्णास्वामी और चेंगलवरयन बैठे हुए हैं, रामानुजन को साँस लेने में काफी कठिनाई हो रही है।

रामानुजन - साँस लेने में . . (खाँसता है) बड़ी मुश्किल होती है।

कृष्णास्वामी - आज सभी टस्टों की रिपोर्ट मिल जाएगी तो इलाज़ भी ठीक से शुरु हो जाएगा।

चेंगलवरयन - स्वामी ! स्वामी !! प्रो हार्डी
(प्रो हार्डी का प्रवेश)

कृष्णास्वामी - आइए सर, गुडमार्निंग, बैठिए।

चेंगलवरयन - गुडमार्निंग!

हार्डी - गुड मार्निंग। गुडमार्निंग। रामानुजन! नमस्कारम्! क्या हाल है?
रामानुजन - अच्छा हूँ सर। थैंक्यू . . .
हार्डी - आज जिस गाड़ी से मैं आया हूँ उसका नंबर तो अच्छा नहीं है, पर खबर अच्छी है।
रामानुजन - क्या मतलब!
हार्डी - पहले खबर या पहले नंबर।
रामानुजन - पहले नंबर।
हार्डी - एक सात दो नौ . . यह संख्या तेरह से कटती है।
रामानुजन - यह तो बडी रोचक संख्या है सर 1729 यह वह सबसे छोटी संख्या है, जिसे दो घनों के जोड के रूप में दो तरह से लिखा जा सकता है।
हार्डी - (आँखें फैल जाती हैं) हूँ . . . दिस इज दि ब्रेन फार विच्च यू हैव बीन सिलैक्टेड ए फैलो ऑफ दि रायल सोसायटी . . । कांग्रेचुलेशन्स।
रामानुजन - क्या।
हार्डी - हाँ।
चेंगलवरयन - बधाई हो.
(तभी डाक्टर आता है)
कृष्णास्वामी - बधाई हो . . . .
(डाक्टर संकेत से चेंगलवरयन को अपने साथ ले जाता है)
रामानुजन - मैं तो स्मिथ पुरस्कार से ही संतोष (साँस फूल जाती है)
हार्डी - वो बहुत छोटी बात . . . तुम अभी आराम करो.
तभी चेंगलवरयन आता है और कृष्णास्वामी तथा प्रो हार्डी को मंच के एक-कोने में ले जाता है। रामानुजन खुशी और तकलीफ के मिले-जुले भावों सहित लेटा रहता है)
कृष्णास्वामी - क्या हुआ।
चेंगलवरयन - बुरी खबर!
हार्डी - क्या हुआ।
चेंगलवरयन - तपेदिक . . . . टयूबरक्लासिस सर।
हार्डी - ओ माई गॉड। इस उम्र में
स्वामी - अब . . . . ?
चेंगलवरयन - डाक्टर ने कहा है इसे भारत वापिस ले जाना ठीक रहेगा . . . एक तो जंग . . . . सारे वातावरण में बारुद की बू फैली, फिर श्रीनिवास को यहाँ कई चीजों से परहेज है।
हार्डी - नहीं, नहीं, मैं डाक्टर से बात करता हूँ।
चेंगलवरयन - नहीं सर, युद्ध में घायल बीमार सैनिक भी यहाँ बहुत आ रहे हैं और फिर आबोहवा का बदलना भी बहुत ज़रुरी है।
हार्डी - वैरी सैड, इट्स ए वैरी सैड मोमेंट फॉर मी।
चेंगलवरयन - उसे कुछ तो बताना होगा, पर वापिस जाना बहुत जरूरी है।

तभी सारा दृश्य अंधेरे में डूब जाता है और मंच के दो छोर आलोकित होते हैं । एक प्रकाशवृत्त में कृष्णास्वामी खड़ा है, दूसरे में चेंगलवरयन।

समुद्री जहाज का शोर उभरता है । पीछे साइक्लोरामा पर जहाज की आकृति उभरती है

चेंगलवरयन - और इस तरह से मैं अपने दोस्त श्री निवास रामानुजन को जहाज में भारत वापिस ले आया।

कृष्णास्वामी - भारत में उसका इलाज शुरु हुआ। मद्रास में ।

चेंगलवरयन - मद्रास से कुम्भकोणम्

कृष्णास्वामी - समुद्री हवाएँ ....

चेंगलवरयन - पहाड़ीमौसम

कृष्णास्वामी - बेहतर दवाएँ

चेंगलवरयन - जानकी भाभी की अथक सेवा . .

कृष्णास्वामी - अम्मा की पूजा

चेंगलवरयन - नामगिरि देवी के मंत्र-जाप

कृष्णास्वामी - फिर भी हालत नहीं सुधरी।

चेंगलवरयन - श्री निवास ठीक न हो सका।

दोनों - और वह कुम्भकोणम् मे पैदा, भारत का विलक्षण अंक दृष्टा 26 अप्रैल 1920 को छोटी-सी 32 वर्ष की आयु में अपनी अक्षय कीर्ति को छोड़कर हमेशा-हमेशा के लिए चला गया

कृष्णास्वामी - वह जिसने बचपन में सवाल किया था, पहला सवाल क्या शून्य को शून्य से भाग देने पर संख्या आएगी ।

चेंगलवरयन - वह संख्याओं का जादूगर चला गया।

कृष्णास्वामी - वह अंकों का खिलाड़ी नहीं रहा।

दोनों - अब हमारे पास समुद्री हवाएँ हैं, पहाड़ों का मौसम है, अंकों का संसार और हम खाली हाथ उठाए खड़े हैं . . आसमान की ओर . . जहाँ सिर्फ एक शून्य है शून्य का विस्तार . . फिर भी हम ढूँढ रहे हैं रामानुजन के गणित का इस्तेमाल . .

चेंगलवरयन - शुद्ध गणित

कृष्णास्वामी - परमाणु शक्ति

दोनों - शून्य . . . .शून्य का विस्तार और हम आज भी खोज रहे हैं रामानुजन होने का अर्थ। रामानुजन होने का अर्थ॥ रामानुजन होने का अर्थ॥।

(इसी के साथ दृश्य लोप)

।।पटाक्षेप।।

कहानी

सच और सच का फासला

चंद्रकांता

क्या आप कभी गुरगुड़ मुहल्ले में गए हैं ? शहर के बीचोबीच मलमूत्र, कचरे और कीच से अटी यहाँ की गलियों से गुजरते आपको विश्वास भले ही न आए कि आप कंप्यूटर युग में रहने वाले प्राणी हैं और जोर-शोर से इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने की तैयारियों में जुटे हैं, विज्ञान और तकनीकी युग में अपनी सांस्कृतिक धरोहर के साथ। लेकिन सच तो सच ही है। वह भी एक सच और इन गलियों का भी एक सच। सच के इन दोनों चेहरों से आपको आए दिन रूबरू होना पड़ता है यदि आप इस देश के आम आदमी हैं और सच से वास्ता रखना आपकी मजबूरी है।

यों मैल और कीच से भरी तंग गलियों से गुज़रना किसी के लिए भी सुकूनदेह नहीं हो सकता। पर यदि आप श्रीधर मल्ला के घर जाना चाहें, (चाह भी सकते हैं, क्योंकि वे रसूख वाले भले आदमी हैं) तो आपको इस गुरगुड़ मुहल्ले की इन तंग बदबूदार गलियों से अपने पैर, परिधान बचाते एहतियात से गुजरना ही होगा। जो लोग शहर की भीतरी गंदगी के लिए सरकार को कोसते हैं और अपने कचरे की पेटी पिछवाडे की गली में खाली कर आते हैं, उनका भी मूड इस गली से आते-जाते चौपट हो जाता है। मल्ला साहब की पीढ़ियों पुराने, गिरने को बेताब घर को देखकर तो घर के भीतर जाने का हौसला भी पस्त हो जाता है, कि क्या पता आप ने देहरी लांघी कि टेढी होती दीवार ढह कर आपको दबोच ले। पर एक बार आप मेरे साथ आए हैं तो भीतर भी चलिए न। प्रेमा यहीं रहती है। उजले चेहरे पर जडी मासूमियत से भरी, आँखों से देखती वह जब आपसे पूछेगी, "भैया के पास आए हैं ?" तो आप इस आशंका से कि कहीं भैया घर में न हुए तो हमें दरवाज़े से ही पलटकर वापस लौटना पडे और इस महकते गुलाब को भर आँख देखने का सुख भी गँवाना पडे, आप दुविधा में पड़े अकारण हकलाने लगेंगे, "नहीं, वो भाई साहब .. मेरा मतलब ... माता जी .. ?" या कुछ ऐसे ही ऊटपटांग वाक्य आपके मुँह से फिसलने लगेंगे। इस दौरान आपका ध्यान अपनी वाक्य संरचना पर न होकर प्रेमा की आँखों पर गडा रहेगा। आप बराबर हैरानी की मुद्रा में मुँह आधा खोले सोचने लगेंगे कि इस अंधेरी गंदी गली में सूरजमुखी कहाँ से और कैसे उग आई ? सूरजमुखी पर बैठे दो काले भ्रमर, या कमल के फूल, हिरणी की कटावदार आँखें, चंचल तितलियाँ, एवं रीतिकालीन कवियों की सरस उपमायें आपके दिमाग को भन्नाती रहेंगी। यहाँ तक तो चलिए ठीक है, जो कुछ भी आपके मन में घुमडता हो वह आपकी व्यक्तिगत पूँजी है, लेकिन जब प्रेमा बोलने लगेगी तो अल्हड़ किशोरियों की तरह अपने शरीर के कटावों उभारों से बेखबर, बटी हुई रस्सी जैसी चुन्नी गले में लटकाये, आपके आसपास यों डोलती रहेगी ज्यों सदियों से आपको जानती हो। आप आत्मीयता से बात करें (जो आप करेंगे ही) तो बेतकल्लुफी से आपके हाथों का भी स्पर्श बड़ी सहजता से करेगी ज्यों किसी सहेली से बतिया रही हो। ऐसे में आप अपनी सीमा रेखाओं का उल्लंघन करते यहाँ-वहाँ हाथ मारने की बेईमान

कोशिशों में पकड़े जायें तो समझिये आपकी खैर नहीं । अब आप कहेंगे कि "भई यह तो बड़ी ज्यादती है ।" आप हँस-हँस के गला भी काटें तो खतावार नहीं और हमने दिल के हाथो मजबूर होकर, और आपकी हरकतों से होकर और आपकी हरकतों से हौसला पाकर, जरा इधर उधर छू दिया तो हम गुनहगार हो गए लेकिन प्रेमा से कह कर तो देखिए वह साफ कह देगी, "साहब आप जैसा रोगी हमारी आत्मीयता को समझ नहीं सकता । क्योंकि औरत आपके लिए माँ, बहन, बेटी न होकर महज़ खेलने, भोगने की चीज़ है । आप पहले अपनी बीमारी का इलाज करवाइए फिर हमारे पास आइए . . . "

आप प्रेमा की बातों से सहमत नहीं होंगे । हो भी नहीं सकते, क्योंकि मर्द और औरत के बीच लक्ष्मणरेखायें आपकी "सांस्कृतिक धरोहर" हैं, वे इक्कीसवीं सदी में आपके साथ जाने वाली हैं । आप उसे एक व्यक्ति मानकर उसके साथ सहज नहीं हो पायेंगे । आपका भी क्या दोष । प्रेमा की इस बेतकल्लुफी से डरकर, या नाराज होकर श्रीधर मल्ला ने यानी उसके बडे भाई ने दसवीं के बाद उसको घर में बैठने की हिदायत दी थी । श्रीधर मल्ला स्त्री शिक्षा का विरोध नहीं करते । फिर इस तरफ तो एम. ए. तक की पढ़ाई निःशुल्क दी जाती है । राज्य सरकार इस मायने में उदार है पर प्रेमा कोई साधारण लडकी है क्या ? फिर श्रीधर मल्ला उन संस्कारी ब्राह्मणों की संतान हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी लड़कियों को जन्मघुट्टी के साथ लाज-हया का सनातनी शीरा भी पिलाते हैं । बदलते वक्त को वे भी कम नहीं जानते, तभी तो शब्दों में थोड़ी बहुत रद्दो बदल करते कहते हैं, "देख बिटिया, प्रकृति ने पुरुष स्त्री में फर्क कर स्त्री को कुछ सीमाओं में बाँध दिया है । वक्त कितना भी बदला हो, स्त्री की शारीरिक संरचना तो युगों पुरानी है । सो . . . " श्रीधर मल्ला वक्त की रग पहचानने की कोशिश के बाद भी यह मानते हैं कि परदे का जमाना न रहा सो ठीक, पर कंधों पर लहराते सिर के बाल, "कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन" वाली देह संरचना और उसे ढकने मूँदने में लापरवाही, औसत पुरुष को डाँवाडोल मनःस्थिति में डालने के लिए ज़िम्मेदार होती है, उस पर स्वभाव की बेतकल्लुफी, हँसी, मुस्कराहट ! तौबा ! हमारी धार्मिक संहिताओं में कुछ जान-समझ कर ही, विद्वानजनों ने विप्रलब्धा नायिका के मुस्कराने पर पाबंदी लगाई थी । मर्द के मन में मोह जगाती है यह मुस्कान । ऐसी कडी परीक्षाओं से गुजरना देवराज इंद्र के भी बस का नहीं । पुरुष तो साधारण मानव है । उसका क्या दोष ? फिर प्रकृति उसपर कृपालु है । वह निःसंग है । उसका क्या आता जाता है ?

इस पर प्रेमा भला चुप रह सकती है ? "भैया किस ज़माने की बात कर रहे हैं ? निःसंग आसक्त ! लाज हया तो ठीक है पर सिर्फ लड़कियों के लिए ही क्यों ? . . . . "

श्रीधर मल्ला जान गए है कि प्रेमा को समझाना उस के बस में नहीं । हर बात के उत्तर में ज़रा सा मुस्करा भर देगी और गालों पर तड़ातड पड़ती, तमाचों जैसी बातें भी मीठे सुरों में इत्मीनान से बोलती जाएगी । अकेले में श्रीधर मल्ला कभी ऊपर वाले को कोसते हैं कि गरीब के घर में प्रेमा जैसे रूप और स्वभाव वाली लड़की को जन्म देकर उन्होंने श्रीधर मल्ला की नींदें हराम नहीं कीं ,उसके सात पुश्तों का बेड़ा भी गरक कर दिया । उन्होंने बहन को एकाधिक बार हिदायत दीं ।

"यों ही-ही ठी-ठी कर हँसा मत कर हर आते जाते के सामने । कुछ लाज हया सीख । अब धींगडी हो गई है, बच्ची नहीं है ।"

लेकिन स्वभाव बदलना इतना आसान तो नहीं होता। "प्रेमा, तेरी मुस्कराहट बड़ी जानलेवा है" यह बात किताबों की दुकान पर बैठे पुष्कर ने भी उसे बताई थी, एक बार जब वह कोई पत्रिका खरीदने उसकी दूकान पर गई थी। यह कुछ साल पुरानी बात है तब "किसी फिल्म में" में भीगे कपडों में लिपटी नायिका को दिखाकर पुष्कर ने कहा था, "तुम तो बिल्कुल इस हीरोइन से मिलती-जुलती हो। तुम्हें तो फिल्मों में जाना चाहिए। यहाँ तेरे रूप की क्या कद्र होगी। बेकार चूल्हे चक्की में अपनी जवानी ज़ाया करोगी . . . प्रेमा ने थोड़ी त्यौरियाँ चढ़ाई थीं। उसकी बेअदबी पर तो वह और भी मुखर हो उठा था, "आय हाय! गुस्से में तो और भी जुलम ढा रही हो" . . तब प्रेमा ने अपनी चप्पलों को दुबारा पाँव में डालते कहा था, "लेकिन तुम्हारा मुँह माथा इतना मैला है कि मेरी चप्पल लगे तो गंदी हो जाय" . . पुष्कर तब आते-जातों के ख्याल से चुप रह गया था पर बाद में वह अपने दोस्तो-पडोसियों को उसे सुना-सुना कर कहता था कि 'यह प्रेमा जो है बड़ी शरारती है, लाज हया कुछ भी नहीं।'

प्रेमा उस दिन घर आकर सोचती रही थी। जाने क्या-क्या! बल्कि ताखे पर रखा पुराना शीशा बार-बार साफ करते उसने अपने चेहरे को विभिन्न कोनों से देखा था। क्या वह सचमुच इतनी खूबसूरत है कि । अच्छा तो अगर यह बालों की लट चेहरे पर यों डाली जाय तो पूनम लगेगी। पर कपडे? दो जोड़ी सलवार कुरते में एक्ट्रेसों के से ठाठ नहीं बनते। छिः, कैसे माहौल में रहती है वह! पहली बार उसे अपनी दरिद्रता पर गुस्सा आया था। गुस्सा क्या आया, वितृष्णा हो आई।

प्रेमा की माँ बेटी की उत्सुकताओं, वितृष्णाओं से न ही वाकिफ थी और न ही उसे इतनी फुरसत थी कि बेटी के ऊलजलूल सोच पर ध्यान दे। प्रेमा का पिता सरकारी सेवाभार से मुक्त होने के बाद अब घर में बैठा सिगरेट-बीडी फूँका करता, यानी अपनी पैंतीस साल क्लर्की की थकान मिटाया करता या पास-पडोस के दोस्तों-नातेदारों के काम में खलल डाल, देश-विदेश की ताज़ा समस्याओं पर भेजा खाली होने तक बहस करता रहता और अंत में फतवे की तरह अपनी अमूल्य राय उनपर थोप देता कि हालातों को देखते हुए अब यही सच है कि शीघ्र ही प्रलय होने वाली है, अब चाहे वह अमरीका रूस के बमों के बटन दबाने से हो या कोई दैवी प्रकोप कारण बन कर आए, पृथ्वी पापों के बोझ से दब गई है . . . ! देश विदेश के पापों से चिंतित प्रेमा के पिता घर के हालातों से बिल्कुल निश्चिंत थे, यह सोच कर कि पूरी उम्र घर की ही चितायें ढोते रहो तो परोपकार करने का समय कब नसीब होगा? लेकिन अहल्ले-मुहल्ले वाले आए दिन उनके धरेलू हालातों पर तपसरा करते और तहे दिल से चाहते कि वे भी घर के बुजुर्ग का कर्त्तव्य निभायें। बहरहाल, मल्ला साहब के घर की चिंता में घुलने वाले यह भी कहते कि उनका घर बार नबी गुंडे की करामात से चलता है। वही जो देर सबेर घर के चक्कर काटता रहता है। कभी-कभी एका धरात, देर होने के कारण वहीं गुजारता है। राजरानी, यानी कि प्रेमा की माँ, अतिथि का सत्कार करना जानती है। मल्ला साहब भी उस दिन अपनी चारपाई नबी के लिए खाली कर देते हैं। बेचारा श्रीधर तो सुबह आठ बजे का घर से निकला रात नौ बजे घर लौटने वाला हुआ। है तो मास्टर, पर ट्यूशन-ब्यूशन के चक्कर में चार पैसा जुटा रहा है। चार-चार बहनों के अलावा उसके अपने भी दो छोटे बच्चे हैं, सो दिन के चार पहर खटना ही उसके भाग्य में बदा है।

एक बहन की यों शादी हो गई है, तीन अभी कुँवारी हैं। एक तो प्राइमरी स्कूल में पढ़ाती है, मुहल्ले वाले उसे जवान बुढ़िया कहते हैं। शादी की उम्र अरसा हुए लाँघ चुकी है। तीसरी, शादी

के इंतजार में बैठी दुसूती के चद्दर-तकिये काढती रहती है। बड़ी ने तो शादी की उम्मीदें छोड दी हैं। स्कूल आना-जाना ही जैसे उसकी ज़िंदगी का एक मात्र ध्येय है। मील भर दूर स्कूल फटर-फटर चप्पलें फटकारते वह यह भी भूल गई है कि सर्दियों में उसे पैरों में मोजे पहनने चाहियें। उसकी मैल सनी फटी बिवाइयों की ओर संकेत कर जब प्रेमा दीदी से ग्लिसरीन-वैसलीन लगाने की ज़िद करती है, तो वह- "छोड़ो, क्या करना है", कह कर टाल जाती है। लेकिन तीसरी नियम से पैर धोकर ग्लिसरीन लगाती है। सस्ता सा ही सही, नेलपालिश भी चुपड़ लेती है। उसे लगता है दीदी के पैरों की बिवाइयाँ न फटी होतीं तो ज़रूर उसकी शादी हो जाती। लेकिन छोटी प्रेमा तीनों बहनों पर हँसती है। उसे हँसने की आदत जो है, कारण-अकारण नहीं ढूँढ़ती। शादी शुदा बहन तीज त्यौहार पर मायके आती है और गुमसुम बैठी रहती है। उसकी आँखों में जुगनुओं का कोई प्रकाश नहीं, बल्कि आँखों के नीचे काले गड्ढों में दुःख जम सा गया है। जीजाजी की बात छेडने पर वह और भी गुमसुम हो जाती है। "न टी. वी., न मोटर साईकिल, गाडी-फ्लैट तो कंगले मल्ला साहब क्या दे पाते? एक नंगी बुच्ची को निभाते हैं दामाद। यही क्या कम अहसान है उसके माँ-बाप पर? पाँच साल हो गए शादी को। एकाध एक्सीडेंट भी न हुआ। यह क्या कम तसल्ली की बात है? बाकी, मर्द तो भौंरा है, जिस डाल बैठे, उस डाल सोहे. . . ." यह उनकी माँ सोचती है, और भगवान को हाथ जोड़ देती है। उसके सामने सबसे बड़ा सच सांसों को बरकरार रखने का सच है। ज़िंदगी है तो सब कुछ है सुख दुःख, अच्छा-बुरा। बेटी से कहती है, "घर की रानी तो तू ही है। वह दस घर में भी मुँह मारे, आएगा तो लौट कर तेरे पास ही न? आखिर तू उसके दो बच्चों की माँ है "

सो घर की रानी मुँह सिये अपना राजपाट सँभाल रही है, अध्यापिका बहन को अपनी दीदी का राजपाट जँचा नही, सो वह दूसरी तरह की ज़िंदगी जी रही है। उसमें पति-सास-ससुर आदि की धमकियाँ नहीं हैं, किसी के आगे हाथ पसारने की जिल्लत नहीं है, बल्कि अपनी बहनों की माँगें भी वह यदा-कदा पूरी कर लेती है, पर उसके चेहरे पर मुहर्रमी मातम छाया रहता है, जिसको पास पड़ोस वाले गंभीरता-गरिमा-शराफत आदि नाम देते हैं पर प्रेमा कहती है दीदी के चेहरे पर अकेली औरत का दर्द लिख गया है। शायद सही भी हो। वह नहीं जानती कि वह कैसा स्पर्श होता है, जिससे हर सिंगार की तरह भीतर का रेशा-रेशा झरने लगता है। उसकी नसें सिकुड़ने लगी हैं और वह नामालूम सी ज़िद में पड़ी अपने आप से ही बदला ले रही है, यानी कि वह पुरुष जाति से नफरत करने लगी है और अपने खोल में सिमटी "चरित्रवान कन्या" का बिल्ला लटकाए घूम रही है।

तीसरी, जो उम्मीदों का दामन कस कर थामे चद्दर-तकियों पर फूल-भँवरे काढ़ रही है, उसे दिन दहाड़े स्वप्नों में बजती शहनाइयों के बीच "देवराज इंद्र" जैसा सुंदर दूल्हा अपने द्वार पर खड़ा नज़र आता है। प्रेमा सभी बहनों से चिढ़ती है, पुरुष पर निर्भर यह औरतें क्या अपने बूते पर हँस भी नहीं सकतीं? घर भर में ऐसा मौन छाया रहता है ज्यों अभी-अभी कोई मौत हो गई हो। अध्यापिका बहन से प्रेमा इसलिए ज़्यादा नाराज है कि वह अपने बलबूते पर जीते हुए भी मुहर्रमी सूरत इसलिए बनाए रखती है कि पुरुष वर्ग से वह दूर और अलग रहने का ढोंग पालती है और भीतर पुरुष की चाह में घुलती जा रही है। उसके लिए इस तरह जलने, कुढ़ने और निस्संग होने का दंभ पालने की क्या मजबूरी है? वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र है और अपने सह अध्यापक रैना को अपना साथी चुन सकती है, जिसने श्रीधर मल्ला से बहन का हाथ भी माँगा था और जो

देखने-सुनने में भी अच्छा आदमी है। लेकिन बहन को किन ग्रंथियों ने ग्रस लिया है, इसे जानना प्रेमा के लिए क्या घर के किसी भी व्यक्ति के लिए आसान नहीं।

प्रेमा सभी बहनों से अलग है। वह हँसना चाहती है। बेबात की बात पर। आकाश के तारों पर कमंद फेंक कर उन्हें अपने सुनहरे बालों में टाँकना चाहती है। घर की मनहूसियत से उसे डर लगता है। घर उसे एक अंधेरी गुफा की तरह लगता है जिसमें कब क्या हो, कुछ पता नहीं चलता। कौन से साँप नेवले इस घर की बिल में कब घुस जायें, इसका कोई एतबार नहीं। लेकिन प्रेमा क्या करे ? अपनी हँसी से खामोशी के कुहासे को भेदना भर काफी नहीं है। तो ? क्या कर सकती है वह ?

नहीं, प्रेमा में कोई ऐब नहीं। नाते-रिश्तेदारों तक की दुलारी है वह। सुगुणी मौसी के घर बड़ा दिन हो, या लाजवंती बुआ के घर दावत, प्रेमा को दो दिन पहले बुलावा आता है। ऐसा नहीं है कि वह घर में बेकार बैठी है। उसने श्रीधर मल्ला के आदेश का विरोध कर कॉलेज की पढ़ाई जारी रखी। भाई साहब ने बहन की ज़िद के आगे भौं-भौं चौं-चौं कर आखिर हथियार डाल ही दिए, बहन ने हँस कर इतना ही कहा, "भाई साहब, आप जिस डर से मुझे घर में कैद करना चाहते हैं, वह डर आपको मेरे घर में बैठने से भी सताता रहेगा। क्योंकि आप दिन भर बाहर रहते हैं और मैं चारदीवारी में बंद रहकर भी पहरे तोड सकती हूँ, अगर मुझे वैसा कुछ करना हो तो।"

घर के काम काज में भी उसकी कोई सानी नहीं, तभी तो नाते-रिश्तेदार भी मना-मना कर बुलाते हैं। घर लीपने से लेकर बर्थडे केक बनाने तक वह कोई भी काम कर सकती है। सुगुणी मौसी कहे, "क्या करूँ" प्रेमा, निका बब्बू को जन्मदिन पर दोस्तों को पार्टी खिलानी है, कहता है केक बनाओ, अब मैं तो पीली ताहरी और खीर बनाकर शगुन मनाने वाली हुई, केक-फेक क्या जानूँ - ?"

"तू चिंता न कर मौसी, मैं बढ़िया केक बना कर दूँगी . . ."

कमला चाची तो दूर की रिश्तेदार है, पर प्रेमा को बेटी की तरह प्यार करती है। तीन लड़के हैं उसके, एक भी लड़की नहीं, श्रीधर मल्ला से उसने कहा कि हम ब्राह्मनों में यह सात पीढ़ियों की दूरी की पाबंदी न होती तो मैं तो प्रेमा को अपने घर की लक्ष्मी बनाती। सोने के हाथ हैं इसके और चेहरा कैसा उजला, आहा।" लेकिन श्रीधर मल्ला के साथ प्रेमा भी जानती है कि सात पीढियों की आड़ कमला चाची की ओट भर है। वह इस जमाने में भी, जब कि सोना तीन हज़ार रुपया तोला बिकने लगा है, बीस-पच्चीस तोलों से कम न माँगेगी। "बाकी तो कार न सही स्कूटर, टी· वी· आदि इत्यादि तो आज चपरासी भी दे देते हैं . . ."। यह तो उसका तकिया कलाम ही है।

लेकिन कमला चाची का सुपुत्र मोती माँ का आज्ञाकारी होने के बावजूद प्रेमा के मोह में बिंधा-बिंधा रहता है। प्रेमा को भी चाची का यह आज्ञाकारी इंजीनियर सुपुत्र बुरा नहीं लगता। मन के किसी अनछुए कोने को छू दिया है इसने। सो कभी कभार हँसने-बोलने में वह कंजूसी नहीं करती। लेकिन कमला चाची लाख प्रेमा को पसंद करे और बेटे से हँसबोल लेने में एतराज़ न दिखाये, मन में उसे ज़रूर डर था कि कहीं इस मायावी लड़की के मोहपाश में फँसकर उसका बेजुबान सुपुत्र बोलना न सीख जाय, सो एक दिन कुछ जान-समझ कर कमला चाची ने प्रेमा से कहा कि "बिटिया, यह मोती शादी करने से फिलहाल मना करता है। मैंने इसके लिए चीफ इंजीनियर लाल जी साहब की निकी पसंद की है, बड़ा अच्छा घर है, लड़की भी लाखों में एक। तू

ज़रा समझा दे। उसमें क्या कमी है। यह घर हाथ से जाएगा तो उम्र भर पछताता रहेगा। वे लोग फियेट कार भी दे रहे हैं मोती के लिए. . . ।"

प्रेमा चाची की अधकचरी चाल पर मन ही मन मुस्कराई। लेकिन चाची का संदेश पहुँचाने मोती के पास गई। इसलिए कि वह मोती के मन की थाह पाना चाहती थी।

तुम्हें "लालजी साहब" की निकी पसंद नहीं ?

मोती उत्तर में उजबक सा देखता रहा।

प्रेमा ने खुलासा किया, "वह लोग तुम्हें फियेट कार दे रहे हैं और निकी लाखों में एक है।" सो तुम शादी जल्दी से क्यों नहीं कर डालते ?

"मैं नहीं चाहता।"

"क्या उम्र भर कुँवारे रहोगे ? या कोई और लडकी पसंद है ? कहो, मैं सिफारिश कर दूँगी।" प्रेमा भी सताने पर तुली थी।

"अपनी सिफारिश आप कर सको तो कर लेना। मैं तो तुम्हारी जगह और किसी को बिठाना नहीं चाहता।" मोती बोल ही पडा।

प्रेमा ने मोती को देखा, ज्यों कोई बीमार कमज़ोर बच्चा खिलौना छिनते देख रुआँसा हो उठा हो। और अपनी मनचाही चीज वापस पाने के लिए दूसरे का मुँह ताक रहा हो। प्रेमा के भीतर दया की जगह गुस्सा उभरने लगा।

"तुम दूसरी की बात करते तो मैं चाची से जरूर कह देती पर मेरे लिए तो तुम्हें खुद ही बात करनी होगी। सच कहूँ तो चाची से बात करने से ज्यादा ज़रुरी है अपने में इतना विश्वास पैदा करना कि अपने घर की रूढ़ मान्यताओं से ऊपर उठकर तुम अपने घर में मुझे सही जगह दिला सको।"

"तुम जानती हो, मैं माँ-पापा का दिल दुखाना नहीं चाहता"। मोती की आवाज में सच्चाई थी पर उसका तर्क प्रेमा स्वीकार नहीं कर सकी, "तुम्हारी खुशी से अगर तुम्हारे माता पिता का दिल दुखे तो इसमें तुम्हारा ही दोष होगा। जरूर तुम या तो अपने माता पिता को नहीं समझते या तुमने अपने आचरण से उनमें गलतफहमियाँ पैदा कर दी हैं या तुम्हारी चाह ही अधूरी है। नहीं तो किसी भी बेटे की खुशी में माता पिता को "दुःख" नहीं हो सकता उनका भ्रम भले ही टूट जाये। पर वह बात तो मन पर कोई न मिटने वाला अक्स नहीं डालती, कमसे कम रिश्तों की सच्चाई को झुठला नहीं सकती "

प्रेमा मोती के प्यार की आँच से पिघली ज़रूर थी पर उसने खुद को गल कर बहने से रोक लिया। नहीं, यों कमजोर और बुज़दिल के साथ बँध कर वह उम्र का स्यापा नहीं पढेगी। एक ही उम्र मिली है उसे सो उसके साथ गैरज़रूरी समझौते नहीं करेगी। उसकी हँसी पर बादल का एक टुकड़ा घिर आया, जिसे उसने कुछ सजल बूँदों में बहने दिया। उम्र का पहला कोमल भाव था वह जो बिना सोचे मोती के लिए उग आया था, पर वह इतना ज़रूरी नहीं था कि रोज़मर्रा की सच्चाइयों से आँखें मूँदी जायें। प्रेमा के जाने तो मन की ताकत से बड़ी कोई ताकत नहीं थी जो ज़िंदा रहने के लिए ज़रूरी हो और मोती के भीतर यही चीज़ नदारद थी।

प्रेमा ने अपने भीतर के फर्क को किसी के सामने प्रकट न होने दिया। वह घर भर को बताना चाहती थी कि हँसने के लिए बाहय कारण नहीं, मन के भीतर की उमंग चाहिए।

माँ सिरफिरी बेटी से नाराज़ होने का एक ही कारण पाती है, उसका अकारण चहकना। पिता तो पिता, श्रीधर मल्ला भी अपने आदेशों-उपदेशों के बेअसर होने के बावजूद प्रेमा के व्यवहार से चुप है। पिता कभी चावल के चिल्ले खाना चाहें या भाई साहब को छुट्टी के दिन "याजि" खाने का मन हो तो घर के बाकी जन असमय की फरमाइशों से भले ही कुढें कुड़मुड़ायें, प्रेमा रबर के बबुए सी खड़ी हो जाएगी और इस मिक्सी, फूड-प्रोसेसर के ज़माने में भी, उनके घर में जो छोटी सी हथचक्की रखी हुई है, उसे निकाल-पोंछ कर उस पर चावल पीस कर पंद्रह बीस मिनटों में गरम-गरम चिल्ले उतार देगी, नमक शाहज़ीरा डाल कर। ऐसी बहन, बेटी पर किसे लाड न आए ?

प्रेमा लाड़ पाती है और प्यार देती है। उससे कोई तन जाये तो उसकी बला से पर अपनी हेठी वह सह नहीं पाती। चोट खाई नागिन बन जाती है। माँ तभी तो उसे सिरफिरी कहती है। लेकिन वह भरपूर जीना चाहती है और अपनी जगह अपने छोटे से घर में भी खुश है। शिकायत नहीं करती।

एक दिन घर में अजीब बात हुई। तीसरी बहन श्यामा दसूती की चद्दरें काढ़ती और लड़के वालों को चाय पिलाती थक गई, उसने रो-रो कर आँखें सुजा लीं और अखबार में पड़े एक समाचार के टुकडे को कोट करके प्रेमा से कहा, "देख, कानपुर में तीनों बहनों ने एक साथ कैसे आत्महत्या की। लडके वाले उनके पिता से दहेज़ माँगते थे और पिता बेचारा उतना दे नहीं सकता था . . ."

प्रेमा ने बहन के आँसू पोंछ कर कहा, "वे लड़कियाँ बेवकूफ थीं। चाहतीं तो अपनी पसंद से किसी साथी को चुन लेतीं . . ."

प्रेमा की बहन ने तमाचा सा उत्तर बहन के मुँह पर मार दिया, "वह तो तेरी जैसी लड़कियाँ ही कर सकती हैं. तू तो देखने में भी सुंदर है। मेरे लिए जितने भी दूल्हे देखे गए वे तुझे माँगते हैं, मेरे लिए तो अब एक ही रास्ता है . . . ."

श्यामा न चाह कर भी बात कह गई।

प्रेमा सन्न रह गई। उसे माँ या बापू ने कभी यह बात न बताई थी बल्कि एक बार जब वह दीदी के साथ लड़के वालों के लिए नाश्ता लेकर आई तो भैया ने ज़रूर मना कर दिया, 'तू रहने दे, श्यामा आप ही ले जाएगी,' कह कर। लेकिन उसने ज़रा भी ख्याल न किया। वह लड़का भी दो चार बार उसे घूरने लगा था पर उसने ध्यान नहीं दिया। सोचा, लड़के तो अकसर लड़कियों को घूरा ही करते हैं। उसमें क्या नई बात है।

तो बहन के दुःख और निराशा का कारण प्रेमा है। प्रेमा ने उस दिन पहली बार थकान महसूस की। ऐसा तो उसने कभी नहीं चाहा। अपने रूप से, जिस पर वह आप रीझ गई थी, उसे वितृष्णा हो आई। दूसरे दिन कालेज से लौटते वह लडके वालों के घर गई। लडके से भी बात की। लड़के ने साफ कहा- "मैं क्या, कोई भी लड़का तब तक तुम्हारी बहन को पसंद नहीं करेगा जब तक घर में तुम कुँवारी बैठी हो . . . ."

"लेकिन यह भी तो हो सकता है कि मेरी मँगनी पहले ही हो गई हो . . प्रेमा ने बहन की प्रशंसा भी की, वह तो तभी से आपको अपना पति माने बैठी है जबसे आपकी बात चली है, उस जैसी समर्पित लड़की . . . "

"मैं उसकी बुराई नहीं करता। बस, सच बात कह रहा हूँ। न मैंने और न मेरे माता-पिता ने आपके घर से रिश्ता करने के लिए मना किया है . . . "

प्रेमा घर लौटी। कुछ दिन चुपचाप बीते। क्या जाने क्या-क्या सोचती रही प्रेमा। क्या जाने क्या-क्या करती रही। अपने ही घर में उसका दम घुटने लगा। घर की गिरती दीवारें, लगा, कभी भी गिर जायेंगी और वह दब जायेगी। रात सपनों में श्यामा दी का रस्सी से लटकता शरीर देख लेती। वह बडी बेचैनी महसूस करने लगती और सोचती, इस तरह वह कैसे जी सकती है ? एक दिन अचानक ही कुछ-कुछ फिल्मी अदाज में प्रेमा घर से गायब हो गई। श्यामा बहन के नाम छोटी-सी चिट छोड कर, 'दीदी, मैं तो काफी अरसे से "काके" को पसंद करती हूँ। सोचा था, तुम्हारी शादी के बाद यही बात तुम सबसे कहूँगी, पर लगता है मेरा वहाँ होना ही तुम्हारी शादी में बाधा डाल रहा है। मैं खुश हूँ मेरे लिए चिंता न करना, क्रोध भी नहीं करना, क्योंकि क्रोध करने से स्थितियों में कोई फेर बदल नहीं होगा। "काका" हमारी बिरादरी का नहीं है, पर वह मन का अच्छा है। उसमें मेरे साथ रहकर जीने का हौसला है।'

"दीदी, उस दिन तुमने आत्महत्या वाली घटना सुनाकर अपने बुजदिल होने का सबूत दिया। मैं तो जीना चाहती हूँ और दीदी, अब तुम भी जल्दी कोई साथी पा जाओगी, मैंने तुम्हारा रास्ता साफ कर दिया है . "

प्रेमा के घर से चले जाने पर मुहल्ले वालों ने कहा - "लडकी के चाल चलन अच्छे नहीं थे। हमें मालूम था।" श्रीधर मल्ला को लगा कि उनके खानदान पर न मिटने वाला धब्बा लग गया है। शायद ईश्वर ने पूर्व कर्मों का दड दिया है उन्हें। माता-पिता ने सोचा, जो हुआ ठीक नहीं हुआ, पर चलो, लडकी किसी ठिकाने तो लग गई, सो भी बिना दान दहेज के। दो बडी बहनें तो घर में बैठी ही हैं, इसकी बारी जब तक आती तब तक तो बेचारी बुढा ही जाता . . .चलो। जो राम करता ठीक ही करता है " बड़ी दीदी के रवैये में कोई फर्क नहीं आया। हाँ, श्यामा दीदी खूब रोई, जार जार। मालूम नहीं इस कारण कि प्रेमा उनके खानदान पर धब्बा लगा गई, इस कारण कि छोटी होते हुए भी अपना मनपसंद साथी चुनकर रच-बस गई या इस कारण कि अब अगर उसकी शादी न हुई तो वह लोगों को कौन सा कारण बताएगी ?

हमें मालूम नहीं सच क्या है। कहते हैं एक बार बादशाह अकबर ने दाना बीरबल से सच और झूठ का फर्क पूछा था तो उसने कान आँख के बीच हाथ रखकर "चार अंगुल का फर्क" बता दिया था। पर सच और सच के बीच का फासला नापना शायद उसके बूते का भी नहीं था।

श्यामा दी के रोने का सच क्या यह नहीं हो सकता कि उसने सोचा हो, अब उसके रास्ते का काँटा साफ हो गया। आखिर खुशी में भी तो लोगों की आँखों में आँसू आ ही जाते हैं।

□

अन्ना अख्मातोवा की सात कविताएँ

डॉ॰ परमानंद श्रीवास्तव

प्रचलित मान्यता यही है कि रूसी कविता का 'स्वर्णयुग' पुश्किन और ल्येरमन्तोव के साथ 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में समाप्त हो गया। इसके बाद साहित्य के केंद्र में वह महान कथा साहित्य आया जिसे तुर्गनेव, दस्तोएव्स्की, तोल्स्तोय और चेखव की सर्जनात्मक प्रतिभा का सर्वोत्तम लाभ मिला। पर 19वीं सदी के अंत में पैदा होने वाले कवियों में अलेक्सांद्र ब्लोक, बोरीस पास्तरनाक, ओसिप मन्देलश्ताम, मारीना त्स्वेतायेवा और अन्ना अख्मातोवा आदि के काव्यात्मक योगदान में कुछ ऐसा विशेष घटित हुआ कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ की रूसी कविता के लिए 'रजत युग' - जैसी संज्ञा अपर्याप्त जान पड़ने लगी और उसे 'द्वितीय स्वर्णयुग' जैसा नाम देने की बाध्यता महसूस की गयी।

जिस आधुनिकतावाद की अभिव्यक्ति रूसी कविता में 'प्रतीकवाद' के रूप में संभव हुई उसे बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के आरंभ में ही प्रवर्तित एक विशिष्ट काव्यांदोलन ने नया मोड़ दिया, जिससे संबद्ध कवि अपने को 'अकेमेईस्ट' कहते थे। इस आंदोलन को सबसे अधिक शक्ति जिन कवियों से मिली, उनमें अन्ना अख्मातोवा और ओसिप मंदेलश्ताम के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। आंदोलन के मुख्य प्रवर्त्तक और संस्थापक थे-अख्मातोवा के ही पति-निकोलाई गुमिल्योव। इस काव्य प्रवृत्ति में क्लासिकी तत्त्वों के प्रति विशेष आकर्षण था, जो विचारधारा और स्थापत्य दोनों रूपों में लक्ष्य किया जा सकता है। ब्लोक और गुमिल्योव की मृत्यु के बाद 'अकेमेईज़्म' और 'प्रतीकवाद' के बीच चलने वाली बहस लगभग समाप्त हो गयी और आलोचकों ने अख्मातोवा और मयाकोव्स्की की काव्य शैलियों के फर्क पर सारी बहस केंद्रित कर दी, जिसके विस्तार में जाना यहाँ संभव नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि रूसी कविता के इतिहास में अन्ना अख्मातोवा की अपनी खास जगह है और उनकी कविता की विलक्षण सरलता, अनुभूति की प्रामाणिकता, गहरी विषादभावना तथा उत्कट जिजीविषा आज भी कविता के पाठकों को चकित करने वाली है।

अन्ना अख्मातोवा का जन्म 1889 में हुआ। 1910 में अकेमेईस्ट आंदोलन के संस्थापक निकोलाई गुमिल्योव से उनका विवाह हुआ जिनसे उन्मत्त प्रेम और विछोह अन्ना अख्मातोवा के काव्यजीवन का एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ बना। निकोलाई गुमिल्योव ने उन्हें 'उदास आँखों वाली जल-परी' के रूप में संबोधित किया है। बचपन के दिनों में ही रूस की तबाही देखने वाली अख्मातोवा ने, जैसी परिस्थितियाँ आयीं, रूस से अपने गहरे लगाव को एक असीमित पीडा प्रधान अनुभव के रूप में जाना। सोलह वर्ष की उम्र में ही वे कविताएँ लिखने लगीं जिनमें दुःख के निजी और वृहत्तर संदर्भ अभिव्यक्त हैं। निकोलाई गुमिल्योव की, क्रांति-विरोधी होने के अभियोग के आधार पर, 1921 में हत्या कर दी गयी। अन्ना अख्मातोवा ने 1923 से 1940 के बीच कविताओं का प्रकाशन प्रायः स्थगित रखा। पुत्र और प्रेमी निकोलाई यूनिन को गिरफ्तार कर यातना-शिविर में

भेज दिया गया, जो स्तालिन की मृत्यु के बाद ही मुक्ति पा सके। अवरोध के दिनों में अन्ना अख्मातोवा लेनिनग्राद में ही रहीं - बाद में वे ताशकंद ले जायी गया। 1945 में उनका समूचा कृतित्व प्रकाशित होने को था जो संभव नहीं हुआ। बीच की अवधि में वे लेखक-संघ से बहिष्कृत भी हुई। स्तालिन की मृत्यु के बाद उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। उनकी मृत्यु 1966 में हुई।

कविता अख्मातोवा के जीवन का सर्वस्व थी। उन्होंने स्वीकार किया है कि कविता जो कुछ और हो सकती थी उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। किन्हीं क्षणों में अख्मातोवा ने यह भी टिप्पणी की है कि कवि एक ऐसा प्राणी है जिससे न कुछ लिया जा सकता है और न जिसे कुछ दिया जा सकता है। इस कथन का स्थूल अर्थ में ग्रहण करना अख्मातोवा के प्रति अन्याय ही होगा जिनकी निजी सच्चाइयाँ भी वस्तुगत व्यापक सच्चाइयों से आलोकित हैं। मन्देलश्ताम के जीवन संघर्ष और काव्यसंघर्ष में अख्मातोवा की जो गहरी हिस्सेदारी रही है, उसे श्रीमती मन्देलश्ताम की महत्त्वपूर्ण कृतियों (Hope Against Hope/Hope Abandoned) में देखा जा सकता है।

अन्ना अख्मातोवा के कवि व्यक्तित्व के तीन बिंब कविताओं में उभरते हैं : एक जो उनके आत्मजीवन या आत्मसंघर्ष की उपज है, दूसरा वह, जो उनकी कविता की सत्तात्मक व्यवस्था द्वारा की गयी आलोचना से विकसित है और तीसरा वह, जो एक ऐतिहासिक समय के दबाव में कुछ अनुभवों के आविष्कार या पुनराविष्कार की देन है। कहा गया है कि अन्ना अख्मातोवा का जीवन साधारण न था। वह एक अर्थ में आश्चर्य था, दूसरे अर्थ में त्रासदी। उनकी कविताएँ अनिवार्य रूप से स्त्री-मन की गहरी आसक्ति और व्यथा को भी प्रत्यक्ष करती हैं पर वे 'कवयित्री' के रूप में अलग से देखे जाने के विरुद्ध थीं। ओसिप मन्देलश्ताम ने अख्मातोवा के संबंध में कहा है कि उनकी कविता की जड़ें रूसी गद्य-कथा में थीं। यह बात इस अहसास के साथ कही गयी है कि उनकी कविता का संगीत अनोखा है - वह पूरे कवि-स्वभाव का व्यंजक है। अख्मातोवा के सरल दिखते व्यक्तित्व में वह जटिलता भी थी जो तॉल्स्तॉय के जटिल व्यक्तित्व की याद दिलाती है। प्रस्तुत हैं उनकी सात कविताएँ -

(एक)

अतिथि

कुछ भी फर्क नहीं : खाने के कमरे की
खिड़की के शीशे पर पतली बर्फ की चोट
मैं तनिक भी नहीं बदली हूँ
पर एक आदमी मुझसे मिलने आया

मैंने पूछा : तुम क्या चाहते हो
उसने कहा : जहन्नुम में भी तुम्हारे साथ रह सकूँ
मैं हँसी, वह तो मैं नहीं
कर सकती, हमें बीमार रखना है क्या

उसके सूखे हाथ ने हल्के स्पर्श से
एक पंखड़ी छू दी
'बताओ किस तरह वे तुम्हें चूमते हैं
किस तरह तुम उन्हें'

और उसकी आँखें एक फीकी चमक के साथ
मेरी अंगूठी से कभी नहीं फिसलीं
उसकी सर्पीली त्वचा के नीचे
कोई भी मांसपेशी काँपी नहीं

आह ! मैं जानती हूँ उसकी खुशी
उसका लालच
आँखों में आँखें डालकर गहरे जानना है

ऐसा कुछ भी नहीं
जिसकी उसे जरूरत हो
कुछ भी नहीं
जिसके लिए मैं मना कर सकूँ

(दो)

स्वप्न में

काला और स्थिर विछोह
मैं तुम्हारे साथ बराबर-बराबर बाँटती हूँ
रोते क्यों हो ! मुझे अपना हाथ दो
और वायदा करो कि फिर आओगे

तुम या मैं दोनों
ऊँचे पहाड़ की तरह हैं और हम
और करीब नहीं आ सकते
बस मुझे तुम्हारा संदेश मिलता रहे
आधी रात को कभी नक्षत्रों से होकर

तो फिर हम जीतते हैं
फिर हम आते नहीं

हमारे सभाषण चुप
हमारे शब्द गूँगे

हमारी आँखें जो फिर
मिली नहीं खो चुका हैं
और सिर्फ आँसू भूलते हैं
पाले की पकड

मास्को के निकट
एक जंगली गुलाब की झाड़ी
इस पीड़ा के बारे में
जानता है

जिसे लोग
अक्षय प्यार के रूप में
जानेंगे

(तीन)

अवशेष

मुझे लगा कि लपटें थीं
जो भोर तक उड़ती रहीं
असख्य
कुछ चीजें मुझे कभी नहीं मिलीं
उसकी अजनबी आँखों
का रंग
क्या था

हर चीज काँपती हुई
और गाती हुई

तुम मेरे दुश्मन थे
या दोस्त
यह बात सर्दियों की है
या ग्रीष्म की ।

(चार)

एक कवि की मृत्यु

न दुहरायी जाने वाली आवाज फिर गूँजेगी नहीं
जो कल नहीं रही और साथ छोड़कर चली गयी
निकुंजों से बतियाने वाली

वह अनाज की एक जीवनदायी बाली में बदल गया
या उस बेहद धीमी बारिश में
जिसके बारे में वह गाता था

और सारे फूल जो इस दुनिया में संभव थे
अचानक खिल पड़े
उसकी मौत से मिलने

वह सीधे उस ग्रह में जाकर
चुप हो गया है
जिसका एक विनम्र नाम
पृथ्वी है

(पाँच)

अलेक्सांद्र ब्लोक के लिए

मैं उसके पास आया अतिथि की तरह
ठीक दोपहर के समय रविवार के दिन
एक विशाल कक्ष में वहाँ
सब कुछ निश्चल था
खिड़की के पीछे कुहरा था
और सूरज रसभरी की तरह
नीले भूरे गड्डमड्ड धुएँ के
ऊपर

वह चुप चितेरा
जब देखता है
कितना एकाग्र होता है

उसकी आँखें ऐसी

कि कोई भुला न सके अच्छा है
बाहर ही देखती रहूँ
अच्छा हो कि उसकी तरफ
बिल्कुल देखा ही न जाय

पर मुझे वह बातचीत याद है
रविवार की धुमैली दोपहर में
कवि के भव्य भूरे घर में
न्नेवा के समुद्र-द्वार में
लगे हुए

(छह)

8 नवंबर 1913

सूर्य मेरे कमरे में भर जाता है
पीली धूल आर-पार
मैं जग पड़ती हूँ और याद करती हूँ
यह तुम्हारा पवित्र दिन है
यही कारण है कि मेरी खिड़की से बाहर
बर्फ भी गर्म है
अनिद्राग्रस्त कैसा सोयी रही हूँ
पवित्र संवाददाता की तरह

(सात)

हमारी सदी

हमारी सदी किसी दूसरी सदी से
खराब क्यों है
क्या डर और दुःख की बेहोशी में
इसने असीमित काले नासूर में
उँगलियाँ डुबो ली हैं

और फिर भी इसे चैन नहीं

पश्चिम की ओर डूब रहा है सूरज

कस्बे की छतें रोशनी में
चमकती हैं

मौत दरवाजों पर
तिर्यक छापे लगाती जाती है
काले कौओं को आवाज़ देती हुई
जो उडान में हैं

□

दो कविताएँ

(एक)

सृजन

महेंद्र मधुकर

शब्द, मेरा सृजन करो
मुझे मिट्टी में गोड दो
वृक्ष बन जाने दो
पृथ्वी से आकाश तक खिंचा पुल।
जड तने फूल और पत्तियों का
मिला-जुला संगीत हो जाने दो

मैं धूल में बीज बनकर उड रहा हूँ
पहाड-शिखर हों
या आकाश उठे महल
मैं अपनी जमीन ढूँढ लूँगा
फिर गर्भवती मिट्टी में
अपनी रचना तक
लगातार प्रतीक्षा करूँगा ।

फिर एक दिन
एक छोटे से दुध मुँहे पत्ते पर
लाल हरी नीली शिराओं में
सूर्य किसी रक्तधार की तरह चमकेगा
दीवारों पर पाँव जमाता
ऊपर उठना जारी रखूँगा
अपनी नन्हीं हथेलियों के दोनों पर
चुनूँगा एक-एक कर सारे दुःख
छोटे-बडे हजार अनगिनत दुःख
इन्हीं में कहीं होगे तुम
छिपे अगोचर
पर, पकड़ से परे नहीं कहीं
शब्द मुझे मार्ग दो
ताकि मैं बाहर आ सकूँ ।

(दो)

नौका

इतने बड़े समुद्र में
इतनी छोटी
मेरी जीर्ण नौका डोल रही है।
ऊँचे-ऊँचे जल शिखरों पर
रह-रह कर समाधि टूटती है
सब ओर से चोट करती हवाएँ
अंतहीन सन्नाटे की गूँज
और बर्फ की तरह पिघलती हुई
सफेद फेन राशि का आवर्त्त कसता जा रहा है।
कौन है, जो मुझसे खेल रहा है
कौन मुझे बिना सूत्र के
बाँध और खोल रहा है
मेरी ग्रंथियाँ शिथिल हो गई हैं
मेरे भीतर का शोर थम गया है
मेरी जीर्ण नौका
किसी भँवर में अब नाच रही है।
दिशाएँ ताल दे रही हैं
आकाश सुर साध रहा है
पृथ्वी की नितंब वीणा हिल रही है
हार की तरह झूल रहे हैं वृक्ष
पर्वतों के सानों में सनसना है
यह किसके चरण जावक में
लिपा हुआ है समूचा सूर्य
यह कौन नाच रहा है?
अंगों की हर मोड़ पर
बह जाती है एक नदी
इस छोर से उस छोर तक
किसके चितवन का प्रसार है?
इस विराट के मेले में
तुम्हारी उँगली पकड़ने की लालसा
और भी उद्दीप्त हो गई है
अब भी यह जीर्ण नौका
तुम्हारे लिए है
सिर्फ तुम्हारे लिए है।

□

तीन कविताएँ

मोहन राणा

(एक)

छुट्टी का आखिरी दिन

इस छोटे शहर के
लगभग खाली इस सस्ते होटल में
यह देर दोपहर
सड़क से गुजरते किसी ट्रक का हॉर्न
बेहिचक कमरे में चला आता है
पुराने हो चले पंखे की आवाज में,
मेरी छुट्टी का यह आखिरी दिन।

कुछ अधूरे कामों का स्मृति
जैसे उभर आता कोई पुरानी थकान
निःश्वासछोड़ती

बादल घिर आए हैं और
सामने के पहाड़ पर धुंधला गई है हरियाली
जैसे मेरी खुशी मैं छुट्टी पर हूँ।

(दो)

शायद तुम्हें याद हो

शायद तुम्हें याद हो
फिलहाल पार कर रहा हूँ
यह लंबी गली
रोशनी जैसे दीवारों में
तलाश रही है सरकता कोई छोर,
इसके बाद कोई चौराहा है
चौड़ी सड़क है

या सिर्फ एक दीवार
'आप किसी गलत जगह आ गए हैं'

बहुत पुरानी यह गली
ईंटों में दर्ज है
अनगिनत पदचाप
टूटे घिसे फर्श पर

यहाँ आकर भूल गया हूँ
शायद तुम्हें याद हो
यहाँ आने की वजह ।

(तीन)

ग्रीष्म

हर चिट्ठी पर मैं लिखता हूँ
जैसे अपना ही पता
जैसे लिखी हो अपने ही लिए

तल्ख हो गया है जलती पत्तियों का धुआँ
बढ़ गई धूप की चिनचिनाहट
इन शब्दों के बाहर

धीरे से खोलूँगा लकड़ी का फाटक
चरमराएँगी पत्तियाँ
पुरानी ईंटों के फर्श पर। □

दो कविताएँ

दिविक रमेश

(एक)

तपिश : उदास ठंड की

थका थका
उतरा
हवाई जहाज अड्डे पर ।

बाहर
दौड़ा मौसम
काटने ।

भीतर
और जोर से थाम ली
डोर
देसी मन ने।

जमती गई
उदास-उदास हवा
चेहरे पर ।

मुक्त तब हुआ
देखा
जब एक फुदकता हुआ
धूप का टुकडा

दरवाजे के पास खेल रहे
बच्चों के चेहरों पर ।

खिलखिलाहट
धूप ही धूप की
बच्चों के चेहरों पर !•

जरूर होगी यहाँ तपिश भी
बर्दाश्त करा देगी जो
उदास ठंड को।

(दो)

विश्व के शांति शहर (बर्लिन) में

यहाँ तो
मजबूत हँसी लिए
गुलाब के पौधे तक
लगता है
गुनहगार मानते हैं खुद को
काँटों के लिए।

घरों में
प्यार नहीं बसाती
मौसम को।
और मौसम है
कि भटकता है पगलाया सा
सड़कों पर।

कोई नहीं खाता गुस्सा
मौसम के कटखने दाँतों पर।

यहाँ
चर्च में बज रहा घण्टा भी
सिर्फ पूजा नहीं
जपता है
शांति शांति शांति।

□

बर्लिन (जी॰ डी॰ आर॰) हवाई अड्डे पर उतरने के बाद की एक अनुभूति

चार कविताएँ

हरदयाल

(एक)

आकांक्षा

हाथ के नीचे हमारे
दो उमगते और सिहरते
कुम्भ कोमल ।
क्षीरसागर अनगिनत
इनमें समाये ।
होंठ रख इन पर
मैं
एक गहरी
और मीठी
और लंबी
नींद सोना चाहता हूँ
स्वप्न में खोया हुआ - सा ।

(दो)

आग का सागर

प्यास का कोई जलधि अथाह
है छिपा
अंदर कहीं मेरे
नहीं तो इस तरह क्यों
प्यास से सूखे सदा रहते
होंठ ये मेरे ।

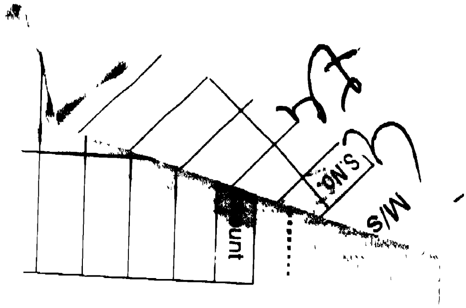
तुम्हारे अधर पर रख अधर अपने
प्यास को अपनी

बुझाने का किया था यत्न मैंने
किंतु क्या यह प्यास बुझ पायी ?
नहीं।
इस यत्न से तो
प्यास का निस्सीम मरूस्थल
और भी धधका
जला मेरे हृदय में
आग का दरिया बहा है,
चीरता मुझको गया है,
तृष्णा-सागर में मिला है।
अरे! देखो तो तनिक मेरी तरफ तुम :
मैं मुजस्सिम आग का सागर खड़ा हूँ।
आग यह मेरी
तुम्हारी भी नहीं है क्या ?
भेद मुझमें और तुममें
अब कहाँ है ?
आग हैं हम,
स्वयं को जो है जलाती
राख करती,
आग वह तुम!
आग वह मैं।

(तीन)

तुम में

तुममें कितना अमृत है
कितना विष
मैं नहीं जानता
मुझे तो
तुम्हारा हर स्पर्श
देता है जिंदगी और मौत
एक साथ
न मैं जी पाता हूँ
न मैं मर पाता हूँ



(चार)

सुख

सुख
तुम्हें छूना
तुम्हें लखना
तुम्हारी बात सुनना
तुम्हें चखना
तुम्हारी गंध में इस तरह खोना
जिस तरह कर्पूर और उसकी गंध का
एक हो रहना।

तीन कविताएँ

अनुभूति चतुर्वेदी

(एक)

तुम्हें शब्द दूँ

तुम्हें शब्द दूँ
या परिभाषा
या कोई इतर संसार

जिसकी तमन्ना में
भटकते हुए
तुमने शताब्दी गुजार दी ।

(दो)

यादें

यादें इतना लंबी क्यों हैं
उन्हें सोचने
सदियां चाहिए
यादें कभी बुढ़ाती नहीं
जख्मों को हमेशा तरोताजा रखती हैं

तुम्हारी याद
हादसों, चुभन
और झुरमुटों को हिलाती हुई
खुशबूओं को फैलाती है
मानो
बालू पर बिखरी
सफेद धूप सी
मीठी याद ।

तीन

महाकाव्य का जन्म

उसने शुरू की थी यात्रा
बिंदु से

बिंदु बढते-बढ़ते
अनेक आकार में बदल गया
और अपनी परिधि
लांघकर
एक शताब्दी का महाकाव्य
बन गया।

□

दो कविताएँ

चंद्रकला त्रिपाठी

(एक)

उजले सच के साथ

मेरी माँ,
मेरी हँसी की चिंता में
जहाँ कहीं अवकाश पाती है
अंजुरी भर हँसते हुए फूलों को समेट लेती है
मेरे लिए
और उँगली की पोर में धंसे कांटों को
मुझसे छुपाती हुई
मुस्कराती है
मेरी रोशनी के लिए
सूरज को कात-कात कर
बाती बनाती है
मेरे लिए पाले
अपने सपनों की उँगली पकड
एक-एक कर
उन्हें चलना सिखाती है
और एक दिन
थमा देती है
मुझे मेरे पंख
कहती है
लो उडो
सारा आकाश तुम्हारा है
मेरी माँ
मेरे आकाश को एक-टक देखती हुई
हवा से पूछती है
'कैसा है मेरा बेटा' ?
साँझ से कहती है - 'ठहरो'
मेरे बेटे के लिए

चांदनी के धागों से बुना
ये लिहाफ लेती जाओ
ठीक सबेरे
क्षितिज पर अँकुराते सूरज से
पूछना नहीं भूलती
'जगाया मेरे बेटे को ठीक वक्त पर ?'
और
सूरज, हवा, आकाश सबसे छुपा कर
आँखें पोछ लेती है
टक-टक ताकते मेरे खिलौनों को
धो-पोछ पाँत में सजा देती है
पूछती है -
'तुम सब खुश तो हो'
दरवाजे से कहती है -
'आहटो का ख्याल रखना'
अक्सर खीझ जाता है
आँगन का बूढ़ा नीम -
"उसकी लोरी के लिए जगती
उसकी छाया के लिए धूप में सूखती
ओ तुम
अभी थकी नहीं क्या ?"
हर बार रूठ जाती है मेरी माँ -
"ममता की आँखों जग कर
ममता के पैरों चल कर
कभी कोई थका है क्या ।"

(दो)

गीत

पिछवारे की नम खिडकी पर
उगता आधा चांद टिका है
दूर सिवानों के पीपल पर
रात का पहरेदार रुका है

एक सवेरा और प्रतीक्षा की सूची में
अभी रात है ।

धुएँ से धुंधली आँखों ने
कब की कर दी साँझा बाती
देहरी पर पद चाप थम गयी
लौट गयी आवाजें आती

उँगली थाम रहे सपने हैं
आँखें मींचो
अभी रात है

लोरी नींद स्वप्न के नाते
उठ बैठीं बीती बरसातें
गाँठों में अटकी बातों ने
खोले नये-पुराने खाते

बंद पलक में प्रश्न काँपता
सब जगते हैं
कहाँ रात है ?

□

अंतर्मन की रत्नमंजूषा में बंद दुर्लभ अनुभूतियां

डॉ. रणवीर रांग्रा

हाल ही में डॉ. नगेंद्र की आत्मकथा प्रकाश में आई है जिसे उन्होंने 'अर्धकथा' की संज्ञा दी है। यह पुस्तक इन दिनों चर्चा का विषय बनी हुई है। डॉ. नगेंद्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं, बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न हैं। समीक्षक, अध्यापक, संपादक, परामर्शदाता आदि अनेक रूपों में वे पिछले पचास-पचपन वर्ष से हिंदी-साहित्य की श्रीवृद्धि में निरंतर अमूल्य योगदान कर रहे हैं, भारतीय वाङ्मय और उससे भी आगे विश्व-साहित्य के आधारभूत तत्वों के अन्वेषण में लीन रहे हैं, मूलतः वे साहित्य के माध्यम से आत्मतत्त्व के जिज्ञासु हैं और अखंड मानव-चेतना को काव्यशास्त्र में ले जाने के लिए व्याकुल हैं।

पर उनका व्यक्तित्व परस्पर-विरोधी धाराओं का संगम है, जहाँ सहज प्रवृत्तियों और सामाजिक संस्कारों का संघर्ष उनकी आत्मा को निनादित किए रहता है। प्रत्येक व्यक्ति और स्थिति के प्रति उनकी प्रथम प्रतिक्रिया बड़ी प्रखर और प्रायः उग्र होती है - एकदम अनुकूल या एकदम प्रतिकूल। बीच की ढुलमुल स्थिति को वे अपना ही नहीं सकते। प्रतिकूलता को तो वे खुलकर अभिव्यक्ति दे देते हैं, लेकिन अनुकूलता पर तटस्थता का आवरण चढ़ाकर उसे औरों की नजर से बचा ले जाने की कोशिश करते हैं। इसीलिए देखने को प्रायः उनका तना हुआ व्यक्तित्व मिलता है। वे परिवार में हों या समाज में उनकी गुरु-गंभीर मुद्रा उनके भीतर की स्निग्धता और मैत्री ममता को छिपाए रखती है। उनके बारे में उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रक्षा देवी का यह कथन कितना सटीक है : "संसार में तीन प्रकार के लोग होते हैं - एक अंगूर जैसे, दूसरे बेर के समान और तीसरे बादाम की भाँति ऊपर से कठोर, पर अंदर में पौष्टिक। मेरे पति बादाम ही हैं।" उम्र के साथ अब उनकी कठोरता बहुत पिघल गई है, वे दुबले भी गए हैं। पर अपनी कठोर मुख-मुद्रा को मुक्त मुस्कान के हवाले करने में आज भी उन्हें अभ्यास करना पड़ता है। इस प्रस्तर मूर्ति का अंतरंग कितना उद्विग्न रहा है, इसका कुछ अनुमान उनकी इस 'अर्धकथा' नामक आत्मकथा से लगाया जा सकता है। उनकी यह स्वीकारोक्ति उनके निकटतम व्यक्तियों तक को चौंका सकती है : "यह अंतरंग जीवन कितना परवश रहा है, इसका अनुमान केवल मैं ही कर सकता हूँ। अहंकार से विजड़ित कठोर मुद्रा के भीतर मेरा मन दूसरों के स्नेह पर इतना अधिक निर्भर रहा है कि मेरे बुद्धि-विवेक के लिए वह प्रायः दया का पात्र बन गया है। जब से मैंने होश सँभाला है, तभी से मैं इस विचित्र अनुभूति से आक्रांत हूँ।"

इस आत्मकथा से पता चलता है कि नगेंद्रजी का बाल्यकाल अर्धसामंती वातावरण में बीता। उनके पितामह पंडित गंगाप्रसाद नगाइच अलीगढ़ जिले के अतरौली नामक कस्बे में ज़मीदार थे। पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सनाढ्य ब्राह्मणों में नगाइच परिवार की अच्छी प्रतिष्ठा थी।

इसी परिवार में चैत्र कृष्णा 9, संवत् 1971 विक्रमी ('9 मार्च 1915 ई॰) को नगेंद्रजी का जन्म हुआ। यद्यपि अभी तक यह निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो पाया है कि उस दिन अंग्रेजी की कौन-सा तारीख थी, पर काफी खोज-बीन के बाद उन्होंने 9 मार्च को ही अपना जन्म-दिवस मान लिया है। उनके पिता सुधारवादी युग के जागरूक युवक थे। उनके सामाजिक और राजनीतिक आदर्श नगेंद्रजी के पितामह के जीवन-दर्शन से मेल नहीं खा सके। पर पितामह का व्यक्तित्व प्रवृत्तिमय था जिसका प्रभाव नगेंद्रजी पर भी पड़ा। अर्धसामंतीय संस्कार अपने गुण-दोषों सहित किसी न किसी रूप में उनके व्यक्तित्व में विद्यमान हैं। इस तथ्य को उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है - "अहम्मन्यता, दुराग्रह, उग्रता आदि सहचारी दोष मुझ में आरंभ से थे। यद्यपि समय की टक्करों और नौकरी की रगड से वे कोने अब बहुत घिस चुके हैं, फिर भी कभी-कभी मुझे और मेरे निकट के व्यक्तियों को इनका अनुभव हो जाता है।"

नगेंद्रजी ने आठवें दर्जे तक अतरौली की पाठशाला में शिक्षा पाई। हाई स्कूल तक वे अनूपशहर के ऐंग्लो वैदिक हाई स्कूल में पढ़े। इण्टर तक उन्होंने चंदौसी कालेज में तथा बी॰ ए॰ और एम॰ ए॰ (अंग्रेजी) तक सेंट जॉन्स कॉलिज, आगरा में शिक्षा पाई। उनका उच्च शिक्षा क्रम इस प्रकार रहा - एम॰ ए॰ अंग्रेजी, सेंट जॉन्स कालेज, आगरा सन् 1936 ई॰, एम॰ ए॰ हिंदी (प्राइवेट), नागपुर विश्वविद्यालय -सन् 1937 ई॰ तथा डी॰ लिट्॰ (हिंदी), आगरा विश्वविद्यालय - 1946-47 ई॰। विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी कर लेने के बाद डॉ॰ नगेंद्र के व्यावसायिक जीवन का आरंभ हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय से संबंधित कॉलिज आफ कॉमर्स में दस वर्ष अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में कार्य करने के पश्चात् वे 1947 में ऑल इंडिया रेडियो में चले गए। वहाँ उन्होंने पाँच वर्ष तक समाचार विभाग के हिंदी सुपरवाइजर के पद पर काम किया। यद्यपि यह कार्य उनकी प्रकृति और रूचि तथा उनके प्रकृत व्यवसाय अर्थात् अध्यापन के विरूद्ध पड़ता था, फिर भी रेडियो में हिंदी की प्रतिष्ठा बढाने का महत्वपूर्ण कार्य संपन्न करने में जिन विद्वानों - अधिकारियों ने योग दिया, उनमें डॉ॰ नगेंद्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सन् 1952 में तो वे स्टेशन डायरेक्टर के पद के लिये चुने गए थे, परंतु रेडियो के कार्य को मन से न अपना सकने के कारण अक्तूबर, 1952 में प्रथम अवसर पाते ही वे उस कार्य को तिलांजलि देकर, दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के रीडर-अध्यक्ष के पद पर आ गए।

डॉ॰ नगेंद्र ने जब दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में अध्यक्ष-पद का कार्यभार सँभाला तब यह विभाग बना ही बना था। उससे पहले दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग अलग से था ही नहीं -एक छोटे से अनुभाग के रूप में वह संस्कृत विभाग का ही अंग था। हिंदी की पढाई की कोई भी व्यवस्था तब ढंग की नहीं थी। शून्य से आरंभ करके किसी विभाग को शिखर तक ले जाना कोई साधारण बात नही -और वह भी तब जब कि इलाहाबाद, वाराणसी, लखनऊ विश्वविद्यालयों के हिंदी-विभागों की तुलना में यहाँ के विद्यार्थियों के हिंदी-ज्ञान का स्तर निम्न होता था और विभाग में पुराने और अनुभवी अध्यापकों की संख्या कम थी। डॉ॰ नगेंद्र के अथक परिश्रम और अध्यवसाय से दिल्ली विश्वविद्यालय का हिंदी-विभाग शीघ्र ही देश के सर्वश्रेष्ठ हिंदी-विभागों में गिना जाने लगा। हिंदी-विभाग की उन्नति के साथ ही डॉ॰ नगेंद्र भी उत्कर्ष की ओर बढे। सन् 1955 में वे प्रोफेसर और सन् 1959 में 'फैकल्टी ऑफ आर्ट्स' के डीन बने और 1960 में 'बोर्ड ऑफ रिसर्च स्टडीज इन ह्यूमेनिटीज' के चेयरमैन हो गए। इसी वर्ष वे भारतीय हिंदी परिषद् के सभापति के रूप में निर्वाचित हुए।

इस तथ्य को कम लोग जानते हैं कि डॉ नगेंद्र के साहित्यक जीवन का प्रारंभ कवि के रूप में हुआ। 'बनबाला' और 'छंदमयी' नाम से उनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनकी रचनाएँ आज भी रस-विभोर कर देती हैं। उनकी प्रथम आलोचना कृति 'सुमित्रानंदन पंत' का हिंदी जगत में आशा से अधिक स्वागत हुआ। इससे नगेंद्रजी के पाँव जम गए। फलतः दूसरी कृति 'साकेत-एक अध्ययन' पहले की अपेक्षा अधिक विश्वास और अध्यवसाय के साथ लिखी गई।

हिंदी-कविता बड़ी तेजी से विकास की अनेकानेक अवस्थाओं को पार करती हुई बढ़ रही थी और इधर डॉ नगेंद्र का आलोचक पीछे की ओर जा रहा था। 'सुमित्रानंदन पंत' के बाद 'साकेत-एक अध्ययन', पंत से मैथलीशरण गुप्त की ओर, फिर 'देव और उनकी कविता की मीमांसा' और फिर 'प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की आत्मा की खोज' तक डॉ नगेंद्र की यह यात्रा बड़ी विचित्र लगती थी। पर वास्तव में वे काव्य की आत्मा की तलाश में उसके मूल स्रोतों का अवगाहन और सिद्ध कवियों तथा आचार्यों का अनुशीलन कर रहे थे। उनकी प्रथम आलोचनाकृति 'सुमित्रानंदन पंत' से लेकर साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत ग्रंथ 'रस-सिद्धांत' तक उनके पूरे समीक्षा-साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने लिए जो दिशा निर्धारित कर ली थी, उस पर वे निष्कंप डगों से निरंतर बढ़ते चले गए। आज भी वे भारतीय वाङ्मय और उससे भी आगे विश्व-साहित्य के आधारभूत तत्वों के अन्वेषण में लीन हैं। हिंदी-साहित्य को उनकी अमूल्य देन है 'रस-सिद्धांत' नामक बृहत् ग्रंथ जो उनकी तीस-पैंतीस वर्ष की साहित्यिक साधना की परिणति है।

हिंदी-साहित्य को समृद्ध करने में संपादक के रूप में भी डॉ नगेंद्र का विलक्षण योग रहा है। अनेक अछूते विषयों पर ग्रंथ-निर्माण की सुसंबद्ध योजना बनाकर उन्होंने अधिकारी विद्वानों के सहयोग से बहुमूल्य कृतियाँ संपादित की हैं जिनमें प्रमुख हैं - 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा' (दो भाग), 'हिंदी साहित्यका बृहत् इतिहास, 'भारतीय हिंदी-वार्षिकी', 'समसामयिक हिंदी-साहित्य, हिंदी-वाङ्मय : बीसवीं शती'। डॉ नगेंद्र द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' सामूहिक लेखन का अद्भुत प्रयास है जो आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पश्चात् हिंदी-साहित्य के प्रामाणिक इतिहास के अभाव की एक प्रकार से पूर्ति करता है।

इस आत्मकथा का एक बहुत बड़ा अंश ऐसे तथ्यात्मक विवरणों ने ले लिया है जो उनके अभिनंदन ग्रंथों और उनकी अपनी समीक्षा-आलोचना कृतियों के माध्यम से पहले से ही ज्ञात है। फिर भी काफी-कुछ ऐसा है जो रोचक हैं और उद्‌बोधक भी :

उनके नाम को ही लें : "स्कूल में मेरा नाम केवल 'नागेंद्र' ही लिखा दिया गया - आरंभ में 'नागेंद्र सिंह' था, फिर कुछ समय तक 'नागेंद्र प्रसाद' रहा। कक्षा चार के अध्यापक ने 'नागेंद्र कुमार' कर दिया था। किंतु अब वह इन सभी उपाधियों से मुक्त होकर केवल नगेंद्र रह गया। उनके आल इंडिया रेडियो में पहुँच जाने पर सरकारी नीति के अनुसार जब न्यूज बुलेटिन में हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के शब्दों का एकसाथ प्रयोग होने लगा (जैसे -' गृहमंत्री यानी वजीरे दाखिला', 'प्रधान मंत्री यानी वजीरे आज़म' आदि) तो हिंदी और उर्दू दोनों के समर्थकों ने उसका ज़ोरदार विरोध किया। हिंदी-समर्थकों में मुख्य थे पं श्री नारायण चतुर्वेदी। जब उन्हें यह मालूम हो गया कि ये प्रयोग डॉ. नगेंद्र के माध्यम से किए जा रहे हैं तो वे 'खगेंद्र' नाम से उनका उल्लेख भी करने लगे।"

निराला जी से नगेंद्र जी की प्रथम भेंट उनके विद्यार्थी-जीवन में ही हो गई थी जब वे सेंट जॉन्स कॉलिज की हिंदी-सभा के वार्षिक कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए निराला जी को आमंत्रित करने गए थे। अपनी इस पहली मुलाकात का उन्होंने ब्यौरेवार वर्णन किया है। उसका यह अंश उल्लेखनीय है : "चंदौसी कॉलिज के मेरे एक मित्र दयानंद गुप्त पर, जो उस समय लखनऊ विश्वविद्यालय में विधिशास्त्र का अध्ययन कर रहे थे, उनकी बड़ी कृपा थी। अतः मैं उन्हीं को साथ लेकर निराला जी से मिलने गया। भूसामंडी काफी पुरानी बस्ती थी और हाथीखाना गली में प्रायः गरीब कामगार लोग रहते थे। हमारे वहाँ पहुँचते ही, एक छोटी लड़की जो निराला जी के यहाँ काम करती थी, अपने आप ही हँसकर कह उठी : 'वहाँ ऊपर रहते हैं।

उसकी हँसी में एक खास तरह के विनोद का भाव था जो निराला जी के अलमस्त व्यक्तित्व और जीवन की ओर संकेत कर रहा था। हमें देखकर निराला जी ने अत्यंत सहज भाव से दयानंद जी से कहा : 'आइए, आइए,' और सामने पड़ी हुई अस्त-व्यस्त कुर्सियों पर वे अखबार बिछाने लगे। मैंने विनीत भाव से कहा : 'आप क्यों कष्ट करते हैं ? हम यों ही बैठ जायेंगे।' वे बोले, 'नहीं, नहीं, इनमें खटमल हैं, इसलिए कागज बिछाना ज़रूरी है।'

जब नगेंद्रजी रेडियो से संबद्ध थे तब वे सुमित्रानंदन 'पंत' को रेडियो में लाने का निमित्त भी बने थे जिसका विस्तार से वर्णन 'रेडियो में कवि पंत का आगमन' शीर्षक के अंतर्गत हुआ। इस संबंध में उनके दो संस्मरण उल्लेखनीय हैं : "मैं रेडियो की ओर से उनको लिवाने स्टेशन गया - कई बार गाड़ी इधर-से-उधर देख ली, पर पंत जी नहीं मिले और मैंने लौटकर श्री बालकृष्णराव को उनके न आने की सूचना दे दी। पर कुछ ही देर में उनका टेलीफोन आया कि पंत जी आ गये हैं और सुश्री निर्मला जोशी के यहाँ ठहरे हैं। मुझे हैरानी हुई - शाम को जब श्री राव के यहाँ हम मिले तो पता लगा कि गाड़ी में और गाड़ी के बाहर भीड़ अधिक थी, धूल भी कुछ ज़्यादा थी; इसलिए पंतजी पंद्रह-बीस मिनट अपना डिब्बा बंद किये गाड़ी में ही बैठे रहे।

पंत जी तब तत्कालीन महानिदेशक लक्ष्मणन से मिल लिए। उसके आगे का वर्णन भी रोचक है : "बाहर निकल कर मैंने पंत जी से पूछा, 'यहाँ का वातावरण आपको कैसा लगा ? डी जी कैसे लगे ?' पंत जी बोले, 'ज़बर्दस्त आदमी है। जब मुझसे हाथ मिलाया तो मुझे लगा कि बस अब मेरा हाथ वापस नहीं आयेगा। लेकिन इन्होंने यह क्यों कहा कि 'ही इज़ ए चाइल्ड'। 'मैंने उत्तर दिया कि वह तो आपकी प्रशंसा में कहा था, आपके निश्छल और सौम्य व्यक्तित्व की सराहना कर रहे थे। और, वस्तुतः बात भी यही थी - फिर भी न जाने पंत जी के मन में यह प्रश्न क्यों उठा ? "शाम हो आयी थी और मैं कार में पंतजी को लेकर डॉ. जोशी की कोठी के लिए रवाना हो गया। आते समय मैं रास्ता भूल चुका था, इसलिए वापसी में मार्ग-दर्शन का दायित्व पंतजी ने अपने ऊपर ले लिया। मुझे सामान्यतः इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए था, परंतु अपने मार्ग-ज्ञान के प्रति अतिशय अविश्वास और पंत जी के आश्वस्त स्वर के कारण मैं उनके निर्देशन पर चल दिया। परिणाम जो होना चाहिए था, वही हुआ : ईदगाह के ढाल और रोहतक रोड के बीच में भटक गया। पंत जी हर बार विश्वास के साथ कहते, 'नहीं नहीं, अब की बार ठीक है, यही रास्ता है, आप चलिए भी।' इसी आवर्तन में अंधेरा हो आया और शायद बैटरी का कनेक्शन ढीला हो जाने से मेरी गाड़ी ढाल पर रूक गयी। बड़ी परेशानी हुई - मुझे बार-बार झुँझलाहट होती कि मैंने पंत जी की बात क्यों मानी, मैं मशीन के थोड़े-बहुत ज्ञान के बिना गाड़ी चलाने की बेवकूफी क्यों करता हूँ ? कई बार मैंने कुछ राहगीरों की सहायता से गाड़ी को ढाल पर ले जाकर स्टार्ट करने की कोशिश

की। पंत जी को कष्ट हो रहा था, इसकी मुझे चिंता थी। वे बेचारे सहायता भी क्या करते ? मैंने उनसे कहा कि आप एक ओर खड़े हो जाइए, मैं किसी ड्राईवर की सहायता से गाडी अभी चालू कर लूँगा; और मैं इधर-उधर किसी जानकार आदमी की खोज करने लगा। इतने ही में पंतजी ने आवाज़ दी, 'डाक्टर नगेंद्र, आप यहाँ आइए, मैं बताऊँ।' मैंने समझा, पंतजी ने गाड़ियों का काफी उपयोग किया है, संभवतः मशीन के बारे में थोडा-बहुत जानते हों। मैं आशा के साथ उनकी ओर बढा तो कहने लगे, 'देखिए, आप इस गाड़ी को बेच दीजिए और नयी ले लीजिए। फिर कभी गड़बड़ नहीं होगी।' मैं काफी परेशान हो चुका था, इस नेक-सलाह को सुनकर खीज उठा। मुझे लगा कि पंतजी को बेवक्त यह क्या मजाक सूझा। पर वास्तव मे पंत जी के चेहरे पर हँसी का कोई निशान ही नहीं था, मुझे ही हँसी आ गयी और मैं मन-ही-मन कहने लगा - 'ही इज़ ए चाइल्ड।"

लक्ष्मणन साहब के ठाठ का उल्लेख करते हुए नगेंद्रजी ने एक और रोचक प्रसंग बताया है : "लक्ष्मणन साहब सैनिक अनुशासन के बडे कायल थे - कर्मचारियों के लिए सुबह की परेड लाजिमी कर दी गयी थी - नमस्कार-सलाम की जगह उन्हें फौजी सैल्यूट करने के आदेश थे। शाम को ही डी. जी. जब तीसरी मंजिल पर स्थित अपने कार्यालय से खट-खट करते हुए उतरते थे, तो ड्यूटी पर तैनात चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को वृत्ताकार खड़े होकर सैल्यूट करना पड़ता था - सारी इमारत बूटों की खटखटाहट से गूँज जाती थी। अजब समां था। एक दिन समाचार अनुभाग के निदेशक नीची निगाह किये सिगरेट पीते हुए गुजर रहे थे कि इतने में एक अर्दली ने सैल्यूट मारा जिससे उनके मुँह की सिगरेट छिटककर दूर जा गिरी। एकदम चौंककर वे बोले, 'ब्लडी फूल, क्या बदतमीज़ी है' फिर मेरी ओर देखकर हँसे और उस कर्मचारी से कहने लगे : 'मिस्टर, यह सब बड़े साहब के लिए ही रहने दो। यहाँ इसकी ज़रूरत नही है।'

रोचक होते हुए भी ये प्रसंग डॉ नगेंद्र की अपेक्षा उन लोगों को अधिक व्यक्त करते हैं जो संस्मरण का विषय बने हैं, जबकि किसी भी आत्मकथा के पाठक आत्मकथाकार के बारे में अधिकाधिक उत्सुक होते हैं। वे उसके कर्म-विवरण के जिज्ञासु नही होते, क्योंकि वह तो पहले ही उजागर होता है और उसी से प्रेरित होकर वे उसकी आत्मकथा की ओर आकृष्ट होते हैं। वे तो उसके अंतरंग की झाँकी पाने को उत्सुक होते हैं। नगेंद्र जी जैसा प्रखर व्यक्तित्व जो दो-ढाई दशकों तक हिंदी-शिक्षा जगत पर, और एक प्रकार से साहित्य जगत पर भी, छाया रहा हो और जो कई प्रवादों का विषय भी बन चुका हो, उसका अंतरंग तो जिज्ञासा जगाएगा ही। इसलिए जब यह खबर फैली कि डॉ. नगेंद्र आत्मकथा लिख रहे हैं तभी से बडे कुतूहल के साथ उसकी प्रतीक्षा होने लगी। उनकी गहन-गंभीर समीक्षा-कृतियों के आधार पर उनकी आत्मकथा के बारे में भी प्रत्याशा की जा रही थी कि वह आत्मलोचन का उत्तम उदाहरण होगी, क्योंकि आत्मकथा-लेखन आत्मालोचन का ही दूसरा नाम है। जो व्यक्ति जितनी निडरता से अपना सामना कर सकता है और जितनी गहराई और बेदर्दी के साथ अपनी चीर-फाड़ कर सकता है, उसकी आत्मकथा उतनी ही प्रामाणिक होती है।

डॉ. नगेंद्र की यह आत्मकथा शुरू होने से पहले ही पाठक को जबरदस्त झटके देती है। पहला झटका तो उसे लगता है उसके शीर्षक 'अर्धकथा' से जो यह ध्वनित करता है कि लेखक ने इस पुस्तक में जानबूझ कर अपनी आधी-अधूरी कहानी ही लिखी है। वैसे वे स्वयं न कहते तो भी यह अधूरी कथा ही मानी जाती। कोई भी आत्मकथा, लेखक की लाख चेष्टा के बावजूद,

संपूर्ण कथा हो ही नहीं सकती, क्योंकि कोई भी अपने को संपूर्णतः नहीं जान सकता। अपने को संपूर्णतः जाने-पहचाने, समझे-परखे बिना संपूर्ण कथा कैसे लिखी जा सकती है ? पर यह आत्मकथा जानबूझ कर अर्धकथा के रूप में लिखी गई है, यह बात इसके 'मुखबंध' और 'समाहार' से स्पष्ट हो जाती है : "जहाँ तक अंतरंग जीवन का प्रश्न है, वह नितांत मेरा अपना है - आपको अपना समभागी बनाने की उदारता मुझ में नहीं है।" इससे पाठक को दूसरा झटका लगता है कि अर्धकथाकार उसे अपनी संपूर्ण कथा का पात्र ही नहीं मानता, बल्कि उसे अर्धकथा का ही पात्र मानता है और वही उसे दे रहा है। पाठक की सहज प्रतिक्रिया तो यह होती है कि यदि अर्धकथा ही देनी थी तो दी ही क्यों ? हमने तो याचना की नहीं थी - न आधी की, न पूरी की। जानबूझ कर अर्धकथा ही रहने दी गई यह आत्मकथा एक गंभीर प्रश्न उठाती है कि आत्मकथा औरों के लिए लिखी जाती है या अपने लिए, अपने को जानने के लिए ? अपने निर्मम विवेचन-विश्लेषण द्वारा, बेरहमी से अपनी चीर-फाड करके, व्यक्ति अपने को व्यग्र किए रखने वाली मूल प्रवृत्तियों का सही रूप जानना चाहता है। मूलतः अपने लिए लिखी गई आत्मकथा अपनी निश्छलता के कारण पाठक को भी आत्मालोचन की प्रेरणा देती है और उसके सहारे वह अपनी गहराइयां नापने लगता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी आत्मकथा-लेखन को, आत्मविश्लेषण द्वारा अपने को, अपनी मनोवैज्ञानिक समस्या के सही रूप को पहचानने का प्रभावी माध्यम मानता है। पर यह तभी संभव है जब आत्मकथाकार मे अपने को जानने की सच्ची लगन हो, बेलाग तडप हो। इस लगन का, तडप का, पहला सरोकार अपने से होता है, अपने अंतरंग से होता है। उसे अपने प्रति पूरी तरह खुलने का, और बेधडक अपना सामना करने का साहस बटोरना होता है। पाठक की बात तो बहुत बाद में आती है और वह भी तब जब आत्मकथाकर का आत्मान्वेषण कहीं पहुँच चुकता है। जो निर्भय होकर स्वयं अपना सामना कर चुका हो वह किसी और का सामना करने से क्यों कतराएगा ?

आत्मान्वेषण-आत्मालोचन बडा ही कठिन कार्य है -खांडे की धार पर चलने के समान। हमारा अंतरंग अपने इर्द-गिर्द इतनी मजबूत किलेबंदी किए रहता है कि व्यक्ति में जब तक आत्मान्वेषण की सच्ची तडप न हो, वह उसे अपने भीतर झाँकने तक नहीं देता। लगता है, डॉ नगेंद्र के अंतर्मन ने भी उनके साथ यही खेल खेला है। मर्यादा की एक लक्ष्मण-रेखा खींच दी है, जिसका लेखक-आलोचक नगेंद्र उल्लंघन नहीं कर सके। इस मर्यादा की रक्षा के लिए उन्होंने स्पष्टीकरण भी दे दिया। उन्हें आत्मालोचन की पीड़ा से बचाने के लिए उनके अंतर्मन ने एक नहीं, दो-दो 'माकूल' तर्क भी गढ़ दिए हैं। इस आत्मकथा के 'मुखबंध' में वे लिखते हैं : यह मेरे जीवन का अर्द्धसत्य मात्र है - पूर्ण सत्य नहीं, क्योंकि पूर्ण सत्य को अनावृत्त करने का नैतिक या अनैतिक साहस मुझमें नहीं है। पूर्ण सत्य का उद्घाटन करने के लिए अनासक्ति पहली शर्त है जो जीवन्मुक्त अवस्था में ही संभव है। जीवन्मुक्ति की अवस्था उस समय प्राप्त होती है जब मनुष्य की चेतना सामान्य रागद्वेष तथा व्यक्ति-संसर्गों से ऊपर उठकर सार्वभौम धरातल पर अवस्थित होकर जैविक धरातल पर उतर आती है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं इन दोनों भूमिकाओं से वंचित हूं।" और फिर 'समाहार' में सूचनार्थ बताते हैं:" कुछ अनुभूतियाँ ही ऐसी हैं जिन्हें मैं अपने जीवन की अमूल्य संपत्ति मानता हूँ, उन्हें मैंने अंतर्मन की रत्न-मंजूषा में बंद कर इस कालपात्र के केंद्र में रख दिया है। ये अभिलेख दो प्रकार के हैं : एक प्रकार के अभिलेखों का संबंध मेरी साहित्य-साधना के सुख संतोष से है और शेष का संबंध नारी के स्नेह-संभार से है।"

इस प्रकार, नगेंद्रजी का अंतरंग उन्हें भुलावे में डालकर उनसे एक विचित्र प्रतिज्ञा भी करा देता है - निष्ठापूर्वक अर्ध-सत्य कहने की : "इस अर्धसत्य की अभिव्यक्ति में मैं यथासंभव असत्य भाषण नहीं करूँगा।" इस प्रतिज्ञा में 'यथासंभव' शब्द मार्के का है। कितना बडा खेल किया है डॉ. नगेंद्र के अंतरंग ने उनके साथ - अर्धसत्य में सत्य भाषण की प्रतिज्ञा और वह भी 'यथासंभव' के कवच के साथ। आश्चर्य तो इस बात का है कि अपने अंतरंग के भुलावे में आकर वे अपने पाठकों को, जिनमें अधिकांश उनके प्रशंसक हैं, अवमानित कर बैठते हैं - साफगोई के बहाने : "जहाँ तक अंतरंग का प्रश्न है, वह नितांत मेरा अपना है - आपको उसका समभागी बनाने की उदारता मुझ में नहीं है।" शायद इन्हीं जोखिमों को भाँप कर भारतीय मनीषी आत्मकथा-लेखन तो क्या, आत्मकथन तक से बचते थे। डॉ नगेंद्र ने जानबूझ कर यह जोखिम उठाया है, तो उसके पीछे उनकी कोई मजबूरी रही होगी।

हो सकता है कि 'अर्धकथा' कालांतर में डॉ नगेंद्र की 'संपूर्ण' आत्मकथा की भूमिका बन जाए और शीघ्र ही हमारे लिए नहीं तो अपने लिए ही सही, हमें अपने अंतरंग का समभागी बनाने की बजाय आत्मसाक्षात्कार के लिए ही सही, 'आत्मानं विद्धि' की तडप से ही सही, अपने अंतर्मन की रत्न-मंजूषा को कालपात्र से निकाल कर अपनी प्रियतम अनुभूतियों की निर्मम खोजबीन करते-करते ही 'जीवनमुक्त' हो जाएं। नगेंद्र जी ने आज तक अपना कोई कार्य, कोई योजना, कोई प्रोजेक्ट आधा-अधूरा नहीं छोड़ा है, बल्कि अपने सहयोगियों से भी हर काम पूरा करा लिया है। उनके विरोधी भी उनकी इस खूबी को स्वीकार करते है। अब यदि वे स्वयं ही अपनी आत्मकथा को आधा-अधूरा छोड़ दें और वह भी डंके की चोट पर तथा इसके लिए ऐसे तर्क जुटाने लगें जिन्हें मस्तिष्क भले ही मान ले पर मन नहीं मानता, तो पाठक के साथ ही नही अपने व्यक्तित्व के प्रति भी उनकी यह ज्यादती ही मानी जाएगी। इसलिए जब तक और आगे की पूरक कृति न आए नगेंद्र जी के बाह्य जीवन की अर्धकथा से ही पाठक को संतोष करना पडेगा। लगता है अपने सार्वजनिक क्रिया-कलाप का मात्र लेखा -जोखा प्रस्तुत करना ही इस पुस्तक का प्रयोजन रहा है।

□

अर्धकथा/ डॉ नगेंद्र/नेशनल पब्लिशिंग हाउस/दिल्ली पृष्ठ संख्या 171, मूल्य 65.00 रुपये

भारतीय कविता में राष्ट्रीय चेतना

आनंद त्रिपाठी

आधुनिक अर्थो में अपने देश में राष्ट्रीयता अपेक्षाकृत नवीन अवधारणा है पर देखा जाए तो, प्राचीन काल से ही पूरे भारतवर्ष को हिमालय से कन्याकुमारी और गुजरात से असम तक पूरे भूखंड को एक राजनीतिक इकाई के रूप में माना जाता रहा है।

गंगे च यमुनें चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्वदे सिंघु कावेरि, जलेस्मिन सन्निधि कुरू ।।
उत्तरं यत् हिमालयस्य, समुद्रश्चैव दक्षिणं।
वर्ष तदं भारतं नाम यत्र संतति ।।

यह अवधारणा प्राचीन भारत में इतनी बलवती थी कि शूरवीर सम्राटों में पूरे भारत को जीतकर चक्रवर्ती बनने की लालसा बनी रहती थी। इसलिए यह मानना कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता की अवधारणाओं का उद्‌भव अंग्रेजी प्रभाव से उत्पन्न हुआ है, तो यह पूरे तौर पर भ्रामक तथ्य होगा। जबकि हमारे प्राचीन साहित्यों में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की परिकल्पना बहुत पहले ही की गयी थी। लेकिन एक निर्मम सच्चाई यह भी है कि हमारे यहाँ राष्ट्रीयता का विकास कभी एक संपूर्ण इकाई के रूप में नहीं हो पाया। बल्कि सामाजिक संरचना के प्रभावी कारक जैसे धर्म, जाति, भाषा, आर्थिक स्थिति तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि राष्ट्रीयता के स्वरूप का निर्धारण अलग अलग रूपों में करने लगती थीं। राजाओं या चक्रवर्ती सम्राटों में भी चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा बहुत कुछ वैयक्तिक ही थी, उनमें राष्ट्रीयता का आदर्शस्वरूप सामने नहीं आया। संकुचित अर्थो में भी राष्ट्रीयता की यह भावना हर्ष के बाद समाप्त हो गयी। पूरा देश टुकड़ों में बँट चुका था। छोटे-छोटे सामंतों में स्पर्धा इतनी क्षुद्र और संकीर्ण स्तर पर थी कि वे आपस में एक दूसरे को उतना ही बड़ा शत्रु मान सकते थे जितना एक विदेशी आक्राता को। यह आकस्मिक नहीं था कि उन्होंने विदेशी आक्रांताओं को अपने यहाँ आमंत्रित किया और देश को गुलाम बनाने में पहल की। वैसे भी भारतवर्ष में जातीय भाषाई, धार्मिक मत मतांतर आदि अनेक विविधताएँ विद्यमान रही हैं। कमोबेश यूरोप में ये समस्याएं नहीं के बराबर रहीं हैं। वहाँ धर्म के नाम पर सिर्फ एक धर्म था। छोटे-छोटे राष्ट्र थे, जिनमें राष्ट्रीयता जैसी भावना को प्रसारित होने में बहुत कठिनाई नहीं थी। लेकिन वहाँ भी राष्ट्रीयता की कल्पना न तो प्लूटो के जमाने में रही और न अरस्तू के। बल्कि उसका उद्‌भव एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में 16 वीं शताब्दी में हुआ। जब आधुनिक अर्थो में वे सभ्य हो चुके थे। इस तरह प्रजा अपने निवास प्रदेशों से ज्यों-ज्यों आत्मीय संबंध स्थापित करती गयी त्यों-त्यों राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती चली गयी।

माना जा सकता है कि भारत में अंग्रेजों के 150 वर्षों के शासन में अनेकानेक विसंगतियों के बावजूद देश में राजनीतिक एकता आई। साथ ही संचार साधनों के विकास, विज्ञान और आधुनिकता के प्रवाह तथा अंग्रेजों के विरूद्ध आंदोलनों के कारण पूरे राष्ट्रवासियों में यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बलवती होती गयी कि विभिन्न प्रांतों, भाषाओं और भौगोलिक विशेषताओं के बावजूद

उनके पारस्परिक हित समान हैं। एक विदेशी सत्ता समान रूप से उनका शोषण कर रही है । साथ ही युगपवासियों के देश प्रेम की निष्ठा ने उन्हें प्रेरणा भी दी । इस तरह समूचे भारतवर्ष में एक राष्ट्रीय भावना का उन्मेष होने लगा था, जो स्वतंत्रता के पहले संघर्ष और बाद में पूरी आजादी की लड़ाई में प्रकट हुआ जबकि पूरा देश विदेशी शक्ति के विरूद्ध एक साथ उठ खड़ा हुआ । वस्तुतः राष्ट्रीयता एक मानवीय प्रवृत्ति है जिसका आधार है राष्ट्रप्रेम । जब किसी देश के नागरिक यह मानने लगते हैं कि वे एक हैं उनकी परंपराएं, सांस्कृतिक विरासत और दायित्व एक से हैं, उनकी एक सोच है, उनके संघर्ष और आशाएं समान हैं तब उनमें राष्ट्रीयता की भावना का सहज विकास होता है और चूँकि साहित्य समाज की आकांक्षाओं और संघर्षों का संश्लेषण होता है इसलिए वह इस संपूर्ष विकास प्रक्रिया का जीवित साक्ष्य होता है । आधुनिक भारतीय साहित्य में राष्ट्रीयता का यह विकास व्यापक रूप से अंग्रेजी शासन से दिखाई पड़ता है । राष्ट्रीय संघर्ष के पूरे दौर में ब्रिटिश शासन के साम्राज्यवादी निरंकुशता और अत्याचारों के विरूद्ध समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने अपना आक्रोश व्यक्त किया और यह ज्वाला पूरे स्वतंत्रता संघर्ष के दौर में दहकती रही । इसने पूरे राष्ट्र को प्रभावित किया था । समस्त भारतीय भाषाओं में राष्ट्रीय भावना के इस संपूर्ण साहित्य का संघर्ष अपने आप में एक श्रम साध्य उद्योग है । जिसकी दिशा में केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने एक सार्थक पहल की है ।

जगदीश चतुर्वेदी द्वारा संपादित तथा भारत सरकार के शिक्षा विभाग के केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित "भारतीय कविता में राष्ट्रीय चेतना" नाम की इस पुस्तक में विभिन्न भारतीय भाषाओं में आजादी के संघर्ष के दौरान लिखी गयी कविताओं में उनके भाषा-भाषियों के संघर्ष तथा युग चेतना को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है, जो सारे क्षेत्रीय, भाषाई जातीय मतभेदों को भुलाकर अंग्रेजी शासन के खिलाफ एकजुट होकर एक शक्ति के रूप में सामने आई । कुल मिलाकर इस संग्रह में विभिन्न 'भारतीय भाषाओं की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना ' शीर्षक से पंद्रह निबंध संग्रहीत हैं जिन्हें गोविंद प्रसाद शर्मा (असमी), गजेंद्र प्रसाद मिश्र (उड़िया), मुहम्मद हसन (उर्दू), तिप्पेस्वामी (कन्नड) जानकी नाथ भान (कश्मीरी), महावीर चौहान (गुजराती), शालै इलंतिरैयन (तमिल), भीमसे निर्मल (तेलगू), फूलचंद मानव (पंजाबी), इंद्रनाथ चौधुरी(बंगला), मनोहर काले(मराठी), प्रो॰ पी कृष्णन(मलयालम), मोतीलाल जोतवाणी, (सिंधी) तथा डॉ॰ नगेंद्र एवं डॉ शांतिस्वरूप गुप्त (हिंदी) ने लिखा है , जिनके अध्ययन से भारतीय भाषाओं की कविताओं में आजादी के संघर्ष के दौर में राष्ट्रीयता की एक समान प्रवृत्ति के विकास की एक पूरी तस्वीर सामने आती है।

असम में अंग्रेजो का आधिपत्य 1826 में हुआ था । यद्यपि छिटपुट रूप से क्षेत्रीय राजाओं और सरदारों द्वारा फुलगड़ी (1861) रंगिया (1893-94) लक्षिमा (1894) तथा पथरूघाट (1894) आदि में विद्रोह हुए, लेकिन कुल मिलाकर कोई बड़ा जनसघर्ष उन्नीसवीं सदी के अंत तक नहीं हुआ । फिर भी इस दौर मे कुछ संस्थाओं का गठन किया गया था, जो जन समस्याओं से संबंधित प्रस्तावों को ब्रिटिश सरकार के पास अर्जी के रूप में भेजती थीं । सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के बाद यद्यपि असम के प्रतिनिधि उसमें भाग लेते रहे थे फिर भी असम में कांग्रेस की शाखा 1921 के बाद ही खुली । बीसवीं सदी के प्रथम दशक तक यद्यपि असम में साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति की बात नहीं उठी थी लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राष्ट्रीय संघर्ष से जुड़ जाने के बाद उनमें इतनी जागृति अवश्य आ गयी थी कि वे विशाल भारत भूमि के

एक अंग हैं । इसलिए ब्रिटिश सरकार की दासता का जुआ उतार फेंकने के लिए उन्हें एक जुट हो जाना चाहिए । इस तरह उनमें एक तरह का राष्ट्रीयता बोध उत्पन्न हो गया था ।

असमी कविता में राष्ट्रीयता की भावना कमलाकांत भट्टाचार्य की कविताओं में सर्वप्रथम मिलती है । हालाँकि मध्यकाल के दो कवियों शंकर देव तथा माधव देव की कविताओं में भी भारतीयता की प्रबल भावना मिलती है । इन दोनों कवियों ने भारत भूमि पर जन्म लेने का सौभाग्य माना है । इन कवियों का भारत के रूप में देशाभिमान तो है लेकिन उसमें राजनैतिक चेतना नहीं है । अतः आधुनिक संदर्भों में इसे राष्ट्रीयता कहना कठिन हैं । कमलाकांत की कविताओं में असम के गौरवशाली अतीत की स्मृति, असम में गैर असमी लोगों की घुसपैठ से वहाँ के साधनों का शोषण एवं विकास की आवश्यकता के गहरे अहसास की वेदना की अभिव्यक्ति हुई है । उन के प्रथम संग्रह 'चिंतानल' (1890) की दो कविताओं "उदागानी" (याचना) एवं "पूर्निमा राति लइ साई" (पूर्णिमा रात्रि की ओर देखते हुए) में कवि का यह दर्द उजागर होता है । जिस तरह 19 वीं शती के अंत तक कांग्रेस के नेता देश की आजादी की माँग नहीं कर रहे थे । उसी तरह कमलाकांत भी अंग्रेजों के भारत त्याग की बात नहीं उठाते हैं । लेकिन जिस तरह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की चेतना बढ़ती गयी और अंग्रेजी शासन से मुक्ति की बात उठी, उसकी झलक उनकी लंबी कविता 'चिंतारंग' (1919) में दीख पड़ती है, जिसमें वे संपूर्ण भारत के अंग्रेजों से मुक्ति की आवश्यकता महसूस करने लगे थे । लक्ष्मीनाथ वेंजबरूआ की कविताओं में देशभक्ति का प्रबल भाव है । अपनी देशभक्ति की दो कविताओं 'द्रविन वैरागी चारण' (1912) तथा असम संगीत (1915) में कवि ने दुखद पक्षों के बजाय उन स्वर्णिम उपलब्धियों के बखान का आग्रह किया है जो असमवासियों को संघर्ष के लिए प्रेरणा दें । साथ ही वह मानता है कि कठोर संघर्ष से असमी अपनी अस्मिता अवश्य पा लेंगे । लेकिन गीत के अंतिम छंद में वह असम की जय जयकार का आग्रह करता है जाहिर है उसकी राष्ट्रीयता का आधार फलक अभी अखिल भारतीय स्तर पर विकसित नहीं हो पाया था । इस युग में राष्ट्रीयता व देशभक्ति के स्वर राधानाथ फुकन, नवीनचंद वर्दोलोई, तरूणराम फुकुन, मित्रदेव महंत, उमेश चौधुरी और पद्मधर चालिहा की कविताओं में भी मिलते हैं ।

लेकिन अंबिका गिरिराय चौधुरी तक आते-आते असमी कविता का तेवर राष्ट्रीय हो जाता है उनकी "जागदेका तेज जाग" (जाग ओ युवा जाग 1940), जीवनर प्रयोजन (जीवन का उद्देश्य 1932), जागृत होता भाई (जागो भाइयो 1926), (हे जन्मभूमि 1916) आदि कविताओं में संघर्ष का अखिल भारतीय स्वर दिखाई पड़ता है । और कहना न होगा कि 1926 के कांग्रेस के गुवाहाटी सम्मेलन में गाये गये उनके प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत आजि बंदो की छंदेर (किस छंद से आज बंदना करूं) में अखिल भारतीय स्वर उभरता है । अम्बिकागिरी की कविताओं में असम के पतन की वेदना व धिक्कार का स्वर प्रमुख है जो उनकी वेदना उल्का (1964), असमियां देखो ए जनो नाइ) (एक भी असमी नहीं दीखता), धरतनी धर, पकड़ो कसकर पकड़ो (1959) की रचनाओं में स्पष्ट दीखती है । 1962 में चीन भारत युद्ध के दौरान उनकी कविता-भारत पूर्व प्रांत रक्षी मई आसो मई आसा (भारत के पूर्व प्रांत का रक्षक मैं हूँ, मैं हूँ) में उनका राष्ट्रीय स्वर पूर्ण मुखरित होता है । उन्होंने असमिया लोगों से शिवाजी, राणाप्रताप व लाचित की तरह भारत की रक्षा करने का आग्रह किया । अंबिका गिरी के बाद नलिनी बाला देवी (1888-1977) की संध्यासुर (संध्या का सुर 1920) सपोनारसुर (स्वप्न का सुर) तथा मुक्ति (1942) आदि कविताओं में देशभक्ति का स्वर मुखरित हुआ है लेकिन इन देशभक्ति पूर्ण कविताओं में राजनीति का स्वर पूर्णरूपेण नहीं है । ये असम पर भी लागू हो सकती है और पूरे भारत पर भी । यद्यपि स्वतंत्रता के बाद भी उनके संग्रहों परशमनि

(स्पर्शमणि 1957), युगदेवता (1958), और जागृति (1962) में राष्ट्रीयता व देशप्रेम की कविताएँ संग्रहित हैं, पर उनमें पहले वाली कविताओं जैसी ऊर्जा का अभाव दीखता है। इसी तरह विनयचंद्र बरूआ (1901) में संग्रह शंखध्वनि (1928) ज्योति प्रसाद अग्रवाल (1903-1951) सैयद अब्दुल मलिक, देवकांत बरूआ (1914) हेम बरूआ (1914-1977), नवकांत बरूआ (1926) आदि की कविताओं में राष्ट्रीयता का स्वर क्रमशः मुखरित होता दीखता है। जिसका विस्तार असम से शुरू होकर अखिल भारतीय स्तर पर विकसित होता है।

इस तरह असमिया कविता में औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध राष्ट्रीय संघर्ष की चेतना कई स्तरों पर विकसित होती हुई दिखाई देती है लेकिन उसके दो रूप सामने आते हैं। एक तो क्षेत्रीयता के स्तर पर और दूसरा राष्ट्रीयता के स्तर पर। जिसमें क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति राष्ट्रीयता से प्रबलतर ही दीखती है।

उडिया कविता में सबसे पहले राष्ट्रप्रेम की भावना उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में दीखती है। राधानाथ राय की कविताओं में यह स्वर सबसे पहले दीखता है। यद्यपि उनकी चिलिका, चंद्रभागा, नंदिकेश्वरी, महायात्रा आदि कविताओं में उड़ीसा के प्राकृतिक दृश्यों एवं जन दुर्दशा का चित्रण हुआ है लेकिन आंचलिकता के साथ-साथ अखिल भारतीय स्वर भी उनकी कविताओं में भी दीखता है। यह भारत भूमि हमारी जननी/नहीं पुण्य इससे बढ़कर। इसी तरह की राष्ट्रीयता के स्वर उनके समकालीन कवियों मधुसूदन राव तथा गंगाधर मेहर में भी मिलता है, लेकिन राष्ट्रीयता का मुखर स्वर सबसे अधिक गोविंद राय की कविताओं में दीखता है। "लाटदर्शन" नामक कविता में उन्होंने खुले रूप से उड़िया के दुख, दुर्दशा एवं अभावों का वर्णन किया है।

उडिया कविताओं में राष्ट्रीयता का नूतन स्वर (1901) में गंजाम राष्ट्रीय समिति की स्थापना तथा 1903 में उड़िया भाषी क्षेत्रों को एक राज्य के रूप में गठित करने के आंदोलन में दीख पडता है। वंदे मातरम आंदोलन का भी उडिया कविता पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। तथापि माना जा सकता है कि उड़िया कविता में राष्ट्रीय चेतना की शुरूआत गोपबंधुदास से होती है। कुंतला कुमारी साबत, वीर किशोर, कांत कवि, लक्ष्मीकांत, पदमचरण, कृष्ण चंद्र त्रिपाठी, कुंज विहारी दास, बांछानिधि महांति, बांछानिधि दास, आदि में यह परंपरा और विकसित होती है। इन कवियों के अलावा सच्चिदानंद राउत राय की 'बाजी राउत' (1941), नित्यानंद महापात्र की 'पाचजन्य' (1947) तथा कालरीण (1954) की कविताओं में पराधीन और स्वतंत्र भारत के जनजीवन की वास्तविक स्थितियों का चित्रण हुआ है।

उड़िया कविता में राष्ट्रीय चेतना स्वाधीनता के पूर्व एक मुख्य काव्यधारा के रूप में प्रचलित थी। लेकिन स्वाधीनता के बाद उसमें कमी आ गयी। स्वाधीनता के बाद की कविता में स्वप्न भंग, राष्ट्रीय दुर्गति, शोषण और अभाव का स्वर साफ देखा जा सकता है।

यों तो उर्दू और हिंदी को अलग भाषा के रूप में मानना ही विवाद ग्रस्त विषय है। फिर भी अमीर खुसरों की मुकरियों और पहेलियों से विकसित होकर मुगलिया सल्तनत के काल तक आते-आते उर्दू एक भाषा के रूप में स्थापित हो चुकी थी। मुहम्मद तुगलक के 1327 में दौलताबाद राजधानी बनाने पर इसका प्रसार हिंदवी के रूप में दक्षिण के राज्यों में हुआ जो हिंदी का ही एक रूपांतर था। शासक वर्ग की भाषा होने के कारण कमोबेश उर्दू का एक राष्ट्रीय रूप

मध्यकाल से ही रहा है तथा उर्दू इलाका, मजहब और जातिगत भेदभावों से परे संपूर्ण भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता को एक नया स्वर देने लगी थी।

ब्रिटिश शासन के बाद से राष्ट्रीय चेतना में खास परिवर्तन हुआ। 1857 के संघर्ष की असफलता का उर्दू रचनाकारों की रचनाओं में असर साफ देखा जा सकता है। दाग का 'शहरे आशोब' तथा गालिब (1766-1869) की रचनाएँ इस समूचे राष्ट्रीय संघर्ष की गवाह हैं। यूरोपीय सभ्यता से संपर्क होने से राष्ट्रीयता के इस स्वर को एक नया जोश मिला। इस समय 'अंजुमन एक पंजाब' (1874) मुहम्मद हुसैन आजाद, अल्ताफ हुसैन हाली तथा आजाद की नज्मों का प्रमुख विषय राष्ट्रप्रेम था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संघर्ष के दौरान उर्दू कविता में राष्ट्रीय चेतना का नवीन स्वर उदित हुआ। इकबाल की प्रसिद्ध रचना ("सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा" 1905) चकबस्त, तथा दुर्गासहाय सुरूर की रचनाएं राष्ट्रीय चेतना की बेहतरीन मिसालें हैं। अकबर इलाहबादी की रचनाओं में पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण तथा सामाजिक कुप्रथाओं पर करारी चोट की गयी है।

गांधी के नेतृत्व में असहयोग एवं खिलाफत आंदोलनों से उर्दू शायरों में राष्ट्रीय भावना प्रबल रूप से विकसित हुई। हसरत मोहानी, मुहम्मद अली जौहर, जफर अलीखान, जोश मलीहाबादी जमील मजहरी, सागर निजामी, रविश सिद्धीकी तथा फिराक गोरखपुरी की रचनाओं में इस स्वर की आंच की पडताल की जा सकती है। इसी तरह मजाज, मखदूम मुहीउद्दीन, सरदार जाफरी, सिकंदर अली वज़्द, जज्बी, साहिर लुधियानवी आदि की रचनाओं में स्वतंत्रता के पहले के दौर के संघर्ष तथा बाद की स्थितियों तथा समस्याओं का गंभीर चित्रण हुआ है। यह गौर तलब है कि उर्दू शायरों के लिए राष्ट्रवाद, आस्था का प्रश्न है क्योंकि उर्दू हिंदू और मुस्लिम दोनों की मिली-जुली सांस्कृतिक धारा को एक साथ लेकर चलती है। फिर भी उर्दू कविता में भारतीय राष्ट्रवाद हिंदुत्व या आध्यात्मवादी के समानार्थी रूप में नहीं है बल्कि यह भारतीय, तुर्की, फारसी, तथा पाश्चात्य सभी तत्वों का मिला जुला रूप है। जिससे इसमें विभिन्न संस्कृतियाँ, स्वाधीनता, सहनशीलता, समानता एवं बुद्धिवाद आदि के मानवीय मूल्य सहज ही आ गये हैं।

कन्नड़ साहित्य मे राष्ट्रप्रेम प्राचीनकाल से ही विद्यमान रहा है। तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के चलते बहुत संभव है उनकी राष्ट्रीयता की व्याख्या थोडी संकुचित भले रही हो फिर भी उनके स्वदेश प्रेम को ठुकराया नहीं जा सकता है। प्राचीन महाकवि पंप से लेकर राघवांक, हरिहर कवि, ओडिरिया, कनकदास आदि की रचनाओं में यह स्वर पूर्ण मुखरित होता देखा जा सकता है। उत्तरमध्यकाल में मुगल सत्ता की समाप्ति, क्षेत्रीय शक्तियों के उदय तथा ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से दक्कन की राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। आपसी संघर्ष के कारण कमजोर भारतीय शासकों के छोटे राज्य 1834 तक ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत आ चुके थे। इस तरह पूरे कन्नड भाषी क्षेत्र छिन्न-भिन्न हो चुके थे। इसलिए इस गरिमा को स्थापित करने तथा कन्नड भाषियों में एकता एवं अपनत्व की भावना को जागृत करने का बीड़ा तत्कालीन रचनाकारों के मत्थे आ पड़ा था। जिसे उन्होंने भली-भाँति निभाया।

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन तथा 1905 के बंगभंग का, पूरे देश की तरह कन्नड़ भाषियों पर भी खास प्रभाव पड़ा। उन्हें अहसास हुआ कि कन्नड़ बोलने वालों को भी संगठित होना चाहिए। स्वाधीनता संघर्ष के दौरान प्रथम कर्नाटक कांफ्रेंस (1920), मद्य दुकानों का घेराव 1927 तथा 1928 में नेहरू कमेटी का निराकरण, तथा नमक आंदोलन के दौरान संपूर्ण

कन्नड़ प्रदेश ने बढचढकर भाग लिया तथा इसी के साथ कन्नड भाषा का आंदोलन भी शुरू हुआ। 1915 में स्थापित कन्नड़ साहित्य परिषद ने इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। बी. एम. श्री तथा आलूर वेंकटराव ने कन्नड़ साहित्य को नया स्वरूप एवं नयी चेतना से वैसे ही समृद्ध किया, जिस तरह भारतेंदु हरिश्चंद्र और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी को। इसी समय आलूर वेंकट राव की विख्यात रचना "कर्नाटकद गत वैभव" प्रकाशित हुई, जिसमें कर्नाटक के साहित्य संस्कृति, कला व धर्म की गौरवशाली परंपरा का चित्रण हुआ है।

कन्नड़ साहित्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन "नवोदय काव्य" आंदोलन से शुरू होता है। जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति, आम जनता की निरीह स्थिति, गरीबी, तथा अशिक्षा के प्रति क्षोभ एवं अतीत का गौरव गान किया गया। इस युग के कवियों ने अपने अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान की स्थितियों से संघर्ष करने एवं पुनर्निर्माण के लिए जनता को जागृत किया।

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कवि वेंद्रे, गोविंद पै, पजे, मंगेश्वर राव, बी एम श्रीकंठया श्रीनिवास, शालिरामचंद्र, कवेंदु बी सी गोकाक, पुतिन, मधुर चेत्र आदि कवियों में राष्ट्रभक्ति एवं मानव प्रेम का स्वर पूरे नवोदय काव्यांदोलन के दौरान दिखायी पडता है। जबकि दूसरे ज्ञानपीठ विजेता कवि कवेंपु की रचनाओं में प्रकृति एवं राष्ट्रीय चेतना समातर क्रम से अभिव्यक्त हुई हैं। उनकी "मेरा देश" "आज का भगवान" "हिंडोला" "मातृभूमि मेरी माँ" आदि कविताओं में पूरी मातृभूमि के लिए गर्व का भाव दिखाई पड़ता है। कुवेंपु वेंद्रे तथा गोपालकृष्ण अडिग आदि कवियों ने आजादी के संघर्ष तथा आजादी के बाद के स्वप्न भग, गरीबी, गांधीवाद का नेहरू शासन द्वारा अस्वीकार, छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों पर चिंताएँ जाहिर कीं। इस तरह स्वाधीनता के बाद के नव काव्यांदोलन में सामाजिक यथार्थ पर विशेष बल दिया गया है। इसमें आर्थिक, सामाजिक, तथा धार्मिक सभी विषयों पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। जाहिर है स्वातंत्र्योत्तर कन्नड कविता का स्वर बहुत कुछ क्रांतिकारी है जिसमें भारतीय जनता के वर्तमान को बेहतर बनाने की आकांक्षा निहित है।

इधर के वर्षों में कन्नड़ कविता में एक महत्वपूर्ण विकास विश्वपथ और मनुजाति की प्रवृत्ति का है जिसकी सीमा देशकाल और जाति से परे संपूर्ण विश्व की एकता और चेतना से जुडी हुई है।

ऐतिहासिक तौर पर कश्मीरी की प्रथम कृति 'महानय प्रकाश, कश्मीर के महान इतिहासकार कल्हण के लगभग 150 वर्षों बाद तेरहवीं शताब्दी में शांतिनय द्वारा लिखी गयी। लेकिन कश्मीरी कविता में राष्ट्रीय चेतना का अंकुरण स्वातंत्र्योत्तर काल के आरंभ होने के कुछ पहले की अवधि में ही होने लगा था। यह एक स्वाभाविक सी घटना थी, क्योंकि भारत के जनमानस में काफी समय से इस चेतना की लहर दौड़ चुकी थी। इस समय के दो कवियों गुलाम अहमद महजूर (1805-1952) तथा अब्दुल अहमद आजाद (1902-1948) ने कश्मीरी साहित्य में पुनर्जागरण और पुनरूत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। जिससे सही अर्थों में राष्ट्रीय चेतना की प्रवृत्ति बढ़ी। सन् 1950 तक इन कवियों ने अपनी कविताओं से राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद, मानव प्रेम, जनक्रांति, समाजवाद और सामाजिक समानता मूलक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देकर साहित्य के साथ ही साथ जनमानस में भी राष्ट्रीय चेतना को उभारा। इस काल के अन्य कवियों, मास्टर जिंदा कौल, नीलकंठ शर्मा, शमशुद्दीन, आरिफ गुलाम मुहम्मद फाजिल, नंदलाल

लक्ष्मण राजदान, रसूल नाजकी, दीनानाथ अलमस्त, आदि प्रमुख हैं जिनकी कविताओं में राष्ट्रीयता के भाव स्पष्ट दीखते हैं।

कश्मीरी कविता में राष्ट्रीयता की भावना का विस्फोट 1947 में कबाइलियों के निर्मम आक्रमण से शुरू हुआ। इस समय के जनकवि दीनानाथ नादिम, सोमनाथ जुत्सी, अब्दुल रहमान 'राही' और अब्दुल सत्तार आसी प्रमुख थे जिन्होंने राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद और देशभक्ति के गीत गाए। इसके अतिरिक्त मिर्जा गुलाम हसन बेग, अब्दुल अर्मान कामिल, मोतीलाल साकी, श्रीधर रैना 'जार', दिलशाद शफी 'शोक', गुलशन मजीद, रसूल पांपुरी, मंरगूब बनिहाली, रफीक राज आदि कवियों में राष्ट्रीय चेतना की परंपरा काफी समृद्ध हुई है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कश्मीर की राष्ट्रीय चेतना प्रधान कविता दिनों दिन समृद्ध होती जा रही है। राज्य की 'कल्चरल अकादमी' तथा 'कश्मीर विश्वविद्यालय' का कश्मीर भाषा विभाग इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

गुजरात में 1818 तक अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो चुकी थी। इस युग के दो कवियों दलपतराम और नर्मद में युग चेतना की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इन्होंने अंग्रेजी शासन की अराजकता तथा जनता की दयनीय स्थिति का चित्रण किया है फिर भी वे अपनी चिंता को देश की राजनीतिक परतंत्रता के साथ नहीं जोड़ पाते। यद्यपि उन्हें अहसास है अंग्रेज उनके आर्थिक स्रोतों का शोषण कर रहे हैं। इस काल के कवियों में दो प्रवृत्ति दीखती हैं। वे अंग्रेजी शासन के शोषण एवं अत्याचारों की भर्त्सना तो व्यक्त करते हैं लेकिन उनकी प्रशंसा भी करते हैं क्योंकि अंग्रेजी शासन में उन्होंने शांति और सुरक्षा का अहसास कराया था। फिर भी कहा जा सकता है कि नर्मद और दलपत की कुछ रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना का अत्यधिक उद्दाम रूप प्रकट हुआ है। इसी युग में न्हानालाल की रचनाओं में गहरे अर्थों में सांस्कृतिक चेतना व्यक्त हुई है। उन्होंने प्राचीन कथाओं के माध्यम से भारत की प्राचीन श्रेष्ठता का गान किया है। यद्यपि बलवंत राय ठाकोर की कविताएँ राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनमें देश की वर्तमान दुर्दशा को लेकर गहरी असंतोष व बेचैनी है, फिर भी उनमें राजनीतिक चेतना का अभाव दीखता है। इस युग के बेहेराम जी, मेरबान जी मजबारी हरिलाल तथा अर्वदराम ध्रुव अन्य प्रमुख कवि हैं। जिन्होंने विदेशी शासन के फलतः आर्थिक व सामाजिक विषमता के प्रति गहरा असंतोष व्यक्त किया है साथ ही वे जनता को युद्ध करने के लिए आहवान भी करते हैं, देशप्रेम की तेज आँच खबरदार की कविताओं में दीखती है। वे शक्तिशाली शत्रु से संघर्ष के लिए सारे लोगों को अपने मतभेदों को भुलाकर संगठित होने का आहवान करते हैं।

गुजराती साहित्य में राष्ट्रीयता की नयी चेतना का उन्मेष महात्मागांधी के आगमन से होता है। रोलेट एक्ट के विरूद्ध आंदोलन, बारदोली सत्याग्रह, साइमन कमीशन का विरोध तथा नमक सत्याग्रह के बाद 1942 की सीधी कार्यवाही आदि राजनीतिक घटनाओं ने देश में एक नयी राजनीतिक चेतना जागृत कर दी थी। इसका खासा असर तत्कालीन साहित्यिक विधाओं पर पड़ा। इस समय झवेरचंद्र मेघाणी की कविता लोक हृदय की धड़कन का मूर्तिवत रूप है। उनके लिए स्वंतत्रता का अर्थ विदेशी शासन को समाप्त करके सत्ता के सूत्र को अपने हाथों में लेना ही नहीं है बल्कि समाज के विशाल शोषित और वंचित जनसमूह को सहज मानवीय अधिकार दिलाना भी है। उनपर मार्क्स और गांधी दोनों का असर है। उनकी एक कविता है - विप्लव आओ/भूकंप आओ/भूचाल आओ/जीर्णता के दासता स्तंभ को ढहा दो। मेघाणी को राष्ट्रकवि माना गया है।

इसी तरह उमाशंकर जोशी तथा सुंदरम् की कविताओं में राष्ट्रीयता की गहरी चेतना है जिसके मूल में मानव प्रेम निहित है। उमाशंकर जोशी की कविता तो राष्ट्रीयता की सीमा को पार कर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विचरण करती है। अपने देश की पराधीनता और वर्गीय समाज व्यवस्था से मुक्ति की आकांक्षा करते हुए भी वे विश्व मानव की पीड़ा का साक्षात्कार करते हैं। उनका प्रकृति प्रेम भी प्रकारांतर से राष्ट्रीय चेतना तथा देश प्रेम का महत्वपूर्ण आधार है। इस तरह हम कह सकते हैं कि आधुनिक गुजराती कविता की यथार्थवादी रूझान वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना की ही देन है जिसकी आंच कलायी, प्रहलाद पारेख, निरंजन भगत और राजेंद्र शाह में भी साफ देखी जा सकती है।

तमिल कविता में आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता का इतिहास दो सौ वर्ष पुराना है। अधिक स्पष्ट रूप से कहना चाहें तो तमिल में राष्ट्रीय चेतना से युक्त पहली रचना सन् 1774 में हुई थी। इस समय दक्षिण भारत के अधिकांश भागों पर ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकार हो चुका था। उनके प्रति स्थानीय लोगों में घृणाा की भावना तीव्र होने लगी थी। इस संदर्भ में मुत्तु पुलकर की काव्यकृति "मुत्तु वीराली" काफी महत्वपूर्ण है, जिसमें प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक वार्तालाप के बहाने राष्ट्रवादी शक्तियों के गठन एवं गोरों को भगाने का आह्वान किया गया है। तमिल में दूसरी देशभक्ति पूर्ण प्रसिद्ध काव्यकृति लियुंग पैरूकावियम 1805 के आसपास वीर पांडियक्टअ वोम्मन द्वारा 1800-1801 में लिखी गयी। इसमें ब्रिटिश शासन का विरोध कर देने से इनकार की भावना स्पष्ट है। जहिर है 1794 से 1805 तक तमिल काव्यों का मूल स्वर आत्मसमर्पण से इनकार करने अथवा विदेशी शासन का कडा विरोध करना था।

तमिल कविता में राष्ट्रीय चेतना प्रधान कविताओं का दूसरा चरण 1877 में रामसामी के प्रतापच्चंद्र विलायम से शुरू होता है। 1891 में पी. सुदरनार द्वारा "मनोन्मर्णीयम" नाटक में भी पद्यबद्ध रचनाएं हैं, जिनमें देशभक्ति एवं संघर्ष का स्वर मुखरित हुआ है। लेकिन सुब्रह्मण्यम भारती की देशभक्तिपूर्ण रचनाओं से तमिल कविताओं में राष्ट्रीयता की भावना का नवीन उन्मेष होता है। उनकी "स्वदेशगीतंगल" तथा "कण्णन-पाटटु" में गेय गीतों की जनमानस में काफी लोकप्रियता हुई साथ ही सुब्रह्मण्यम भारती ने तमिल काव्य में राष्ट्रीयता को प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में स्थापित कर दिया। इस तरह टी. वी. कल्याण सुंदरम ने "स्वतंत्रता की प्यास" में सग्रहीत रचनाओं में इतिहास पुरूषों की गाथाएँ लिखी तथा देश की करूण परिस्थिति को दूर करने का आह्वान किया। गांधावादी कवि के नाम से विख्यात नामक्कल रामबिंगग की रचनाओं, में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए गांधीवादी विचार साफ जाहिर होते हैं। जबकि विश्वनाथ दास के बंगलागीतों में देशभक्ति तथा विदशी शासन से मुक्ति के लिए संघर्ष का आह्वान काफी मुखर है। कहना न होगा राष्ट्रीय आंदोलन के क्षितिज पर गांधी जी के उदय का तमिल कविता पर खास असर पड़ा। रामच्चोंक्कलिंगम, कल्वैवाणन कोत्तमंगलम सुब्बु, एस. डी. सुंदरम, भारतीदासन आदि की रचनाओं में इसे साफ तौर पर देखा जा सकता है। जाहिर है तमिल काव्य में राष्ट्रीयता का इतिहास लगभग 200 वर्ष पुराना है जिसमें विभिन्न विचारों के कवियों ने देशभक्ति की भावना को विकसित एवं समृद्ध करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

यद्यपि तेलुगु में देशप्रेम की भावना काफी पहले से रही है लेकिन सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता की भावना कांग्रेस की स्थापना (1885) तथा गांधी जी के भारतीय राजनीति में पदार्पण से ही आयी। इन राजनीतिक आंदोलनों के असर से तेलुगु कविता काफी हद तक प्रभावित हुई। 1907 में चिलकमूर्ति की लिखी आशु कविता को राष्ट्रीय चेतना की प्रथम रचना माना जा सकता है। इसके

बाद रामप्रोलुसुब्बा राव, पी रामासामी तथा तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में छद्मनाम से प्रकाशित कविताओं में राष्ट्रीयता के स्वर की धड़कन महसूस की जा सकती है। जाहिर है 20वीं सदी के प्रथम दशक से ही तेलुगु भाषा में राष्ट्रीय चेतना से युक्त रचनाएँ हुई। राष्ट्रीय चेतना की इन रचनाओं की चार कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। (1) नेताओं की प्रशस्ति में लिखे गये काव्य, (2) नेताओं की स्मृति में लिखे गये काव्य, (3) उद्‍बोधन प्रधान काव्य (4) अस्पृश्यता निवारण संबंधी काव्य। इस काल की रचनाओं पर गांधी जी का व्यापक असर दीखता है। राममूर्ति चौधरी द्वारा 'गांधी जी की जीवनी का काव्यानुवाद', मारिगंटि शेषाचार्य की "श्री गांधी भारतमु", मल्लादि अच्युत रामशर्मा की "महागांधी स्वागतम" आदि रचनाओं में उन्हें ईश्वर के समान माना गया है। इसी तरह अन्य स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों लाला लाजपत राय, दादाभाई नौरोजी, तिलक, गोखले, मोतीलाल नेहरू, आदि पर भी कविताएं लिखी गयीं।

राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित इन कवियों ने सामाजिक असमानताओं को भी अपने काव्य का प्रमुख विषय बनाया तथा राणाप्रताप, अमरसिंह, शिवाजी जैसे इतिहास पुरूषों की गाथाओं पर भी काव्य लिखे गये।

कहना न होगा बीसवीं शती के प्रारभ से ही तेलुगू काव्य में राष्ट्रीय चेतना से युक्त रचनाओं की भरमार रही है साथ ही इनमें समग्र राष्ट्र की एकात्मकता को बल देने का सार्थक प्रयास किया गया है।

पंजाबी कविता में राष्ट्रीयता का स्वर काफी पुराना है। जिसकी गूँज लोकगीतों से लेकर गुरूवाणियों और संतवाणियों में साफ सुनी जा सकती है। वस्तुतः भारत में राष्ट्रीय एकता का संकल्प जहाँ से शुरू होता है पंजाबी कविता का योगदान वहीं से शुरू हो जाता है। प्रभजोत कौर, विश्वनाथ तिवाड़ी, सुरवीर सिंह "हसरत" से लेकिर शिवकुमार, जसवीर सिंह आहलूवालिया, सोवन सिंह 'मीशा' तथा भगवंत सिंह की कविताओं में स्वतंत्रता की इच्छा शक्ति तथा अपने देश की सर्वोपरिता की भावना साफ देखी जा सकती है।

ब्रिटिश शासन अंग्रेजों के आगमन के साथ पंजाब में चेतना का नया दौर शुरू होता है। अंग्रेजों के प्रति जनविरोध को मुखरित करने में कवियों की भूमिका काफी अहम रही है। शाह मुहम्मद के 'जंगनामा' में रणजीत सिंह के ऐसे कठिन समय में न रहने का क्षोभ व्यक्त किया गया है साथ ही टेर तर्ज पर लिखे गये गीतों ने जनता में नयी चेतना भर दी जिसमें, 'पगड़ी संभाल जट्टा' वाला गीत काफी लोकप्रिय हुआ। 1914 में गदरपार्टी के मुखपत्र "गदर" के प्रकाशन से देश में चेतना की नई लहर आयी थी। "गदर दी गूंज" शीर्षक से छपी कविताएँ लोगों की जुबान पर छा गयी थीं। उस समय के अखबारों तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित उद्‍बोधन गीतों का अपना महत्व है। "आजाद अकाली" "प्रदेशीखालसा" "बब्बरशेर" जैसे पत्र पत्रिकाओं में फिरोजदीन शर्फ, हीरा सिंह दर्द, ताराचंद फलक, धनीराम चाचिक आदि कवियों की कविताएँ उस ज्वाला की आँच को प्रमाणित करती हैं। राष्ट्रीयता के साथ ही साथ पंजाबी कविताओं में जातीय सांप्रदायिकता के प्रति गहरी वेदना व्यक्त होती है। अमृता प्रीतम की भारत विभाजन पर लिखी गयी "अज्ज आँखां वारसशाह नू कौन धोयेगा खून" तथा हरभजन सिंह, संतोषसिंह धीर, नंदलाल नूरपुरी दर्शन सिंह आवारा, बलवंत हरभजन सिंह, जगतार, हरभजनसिंह भागल "हुदल" आदि की रचनाएँ इसकी साक्ष्य हैं। इसी तरह हरिहर सिंह शिवकुमार बटालवी तथा नयी पीढ़ी में बलराम यमन, करतार सिंह, बलग्गड, करतार सिंह सुमेर, हसरत, पातर से लेकर राजेंद्र खेत्रपाल आदि अनेकों नाम हैं

अनेकों नाम हैं जिनकी कविताओं में देशप्रेम एवं आंतरिक तथा बाह्य शत्रुओं से सजग रहने की प्रेरणा मिलती है।

ब्रिटिश शासन तंत्र का केंद्र होने के नाते बंगाल पाश्चात्य ज्ञान और शिक्षा से सबसे पहले प्रभावित हुआ जिसके कारण भारतीय राष्ट्रवाद को बौद्धिक पृष्ठभूमि मिली। साथ ही भारतवासियों को यह ज्ञान हो गया था कि ब्रिटिश शासन का मूल उद्देश्य येन केन प्रकारेण अपनी औपनिवेशिक सत्ता को बनाए रखना है, जिसका विरोध करने के लिए वे एकजुट हो गये। बंगला कविता में राष्ट्रीयता की प्रथम तस्वीर 1867 के जातीय (राष्ट्रीय) मेले के अवसर पर गाये गये सत्येंद्र नाथ ठाकुर के गीत में मिलती है जिसमे उन्होंने सभी भारतवासियों से एक स्वर से भारत के गुणगान का अनुरोध किया था। उन्नीसवीं सदी के आठवें और नवें दशक में बंगला साहित्य में राष्ट्रीयता का ज्वार उमड़ पड़ा था। बंकिम बाबू द्वारा 'आनंदमठ' में रचित 'बंदेमातरम्' जन जन की अस्मिता का स्वर बन गया। अन्य कवियों ईश्वर चंद्र गुप्त, कालीप्रसाद सिन्हा, नलिन चंद सेन, हेमचंद्र बंधोपाध्याय, रंगलाल बंधोपाध्याय आदि ने ऐतिहासिक आख्यानों तथा ओजस्वी कविताओं के माध्यम से देशभक्ति की चेतना फूंकी तथा अपने अतीत की गौरव गाथाओ से आम जनता में आत्मविश्वास वृद्धि के लिए पहल की।

बंगला कविता मे राष्ट्रीय जागरण का विस्फोट (1905) के बंगभंग आदोलन से शुरू होता है। इस समय समूचे बगाल में बंगभंग का विरोध स्वर जन जन में मुखरित हो रहा था। उस समय की छपने वाली अनेक पत्र पत्रिकाए "हिंदपेट्रियट" "अमृत बाजार पत्रिका", "न्यूइंडिया", "बंदेमातरम्" आदि इस भावना को काफी उग्र ढंग से व्यक्त कर रही थे। एक अन्य बंगला दैनिक "युगांतर" ने तो हिंसात्मक क्रांति का आह्वान किया था।

देश के दीवानों। खून बहाए बिना देश क्या जाग सकेगा।

इसी तरह किरण चंद्रमुखोपाध्याय तथा रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने गीतों में राष्ट्रीयता और मातृभूमि प्रेम के गीत गाये तथा ब्रिटिश शासन की भर्त्सना की, साथ ही यह भी स्वीकारी कि भारत के पतन के लिए ब्रिटिश शासन और उससे भी अधिक जिम्मेदार हमारे अपने ही पूर्वज थे। एक लेख में उन्होंने स्वीकारा कि हम तो इतने प्रमादी हो गये कि हमें देश के बारे में कुछ ज्ञान रहा ही नहीं।

लोक गायक मुकुंददास, रजनीकांत सेन, काजी नजरूल इस्लाम ने अपनी कविताओं में उग्र राष्ट्रवादी प्रवृत्ति उजागर की। कहना न होगा इन कवियो ने स्वतंत्रता संघर्ष के दौर में कविताओं और गीतों को अस्त्र-शस्त्रों के रूप में प्रयुक्त किया।

मराठी कविता में राष्ट्रीय चेतना का उन्मेष प्राचीन काल से ही होने लगा था। यद्यपि उसका स्वरूप बहुत कुछ क्षेत्रीय संकीर्णता से बँधा हुआ था। यादव वंशीय शासन से लेकर शिवाजी तथा पेशवा काल मे राष्ट्रीय चेतना का यही स्वरूप दीखता है। आधुनिक अर्थों में मराठी कविता मे राष्ट्रीय चेतना का उन्मेष 1857 के बाद से होता है। 1885 मे कांग्रेस की स्थापना के बाद लोगों मे यह भावना पुष्ट हो गयी थी कि भारत की दुर्दशा का मुख्य कारण अंग्रेजी शासन है तथा उसकी निजात के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता पहली शर्त है। इस दिशा में सबसे पहले विष्णुकांत चिपलूणकर, आगरकर तथा बालगंगाधर तिलक ने राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला को जनमानस में उद्दीप्त किया था। जिसने तत्कालीन कवियों को देशप्रेम की कविताओं के सृजन की प्रेरणा दी। आरंभिक युग की इन कविताओं में महाराष्ट्र के अतीत पर गर्व एव वर्तमान पराधीनता पर खेद

व्यक्त किया गया है साथ ही जनता से स्वदेश की रक्षा एवं परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर फेंकने के लिए आह्वान किया गया है।

आधुनिक मराठी कविता में राष्ट्रीय चेतना की प्रवृत्ति देशप्रेम, प्रकृति प्रेम, स्वतंत्रता तथा क्रांति के लिए आह्वान एवं अतीत का गौरव गान के कई रूपों में व्यक्त हुई। इन कवियों में चंद्रशेखर कुरूद वाडकर, साधुदास, अनंततनय, केशवसुत, माधवानुजमाधव, पी यशवंत, गिरीश तांबे, बोरकर, नाटिलक, सावरकर, बालकवि दत्त एवं गोविंदाग्रज आदि प्रमुख हैं। साबरकर की विदेश में सागर को संबोधित कविता मर्म को छू लेती है। हे सागर तू मुझे वापस मातृभूमि के पास ले चल/उसके दर्शन करा दे/ उसके बिना मेरे प्राण तड़प रहे हैं।"

स्वछंदतावाद के दौर में (1920 से 1940 तक) मराठी काव्य में "रविकिरण मंडल" के कवियों में माधव ज्यूलिपन, यशवंत दिनकर पेंटरकर, कवि कसमागुण ने क्रांति की भावना को संवेदनात्मक अनुभूति की चरमसीमा तक पहुँचाया तथा देश के युवकों से मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देने का आह्वान किया। कहना न होगा कि मराठी कविता में राष्ट्रीय चेतना अपने विभिन्न रूपों पोवाडा, लावणी, गीत, स्रोत, पद, भजन तथा आरती सभी में मुखरित हुई। राष्ट्रीय चेतना के उर्जस्थित इन कवियों ने ब्रिटिश शासन काल में अनेक भीषण यातनाओं और कारावासों के बावजूद शिखा को मद्धिम नहीं पड़ने दिया।

मलयालम कविता में संकुचित अर्थों में राष्ट्रीयता प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। अपने अपने राजाओं की चारणों द्वारा प्रशंसा पूर्ण कविताओं को अंशतः राष्ट्रीय कविता मान सकते हैं, क्योंकि उनमें राष्ट्रीय भावना निश्चित रूप से है। बारहवीं शती में वीर राम वर्मा की 'रामचरितम्' इस तरह की पहली रचना है। इसी तरह की भावनाएँ चौदहवीं शती के उत्तरार्ध और 15 वीं शती के प्रारंभ की लिखी 'कण्णशश' कविताओं में भी मिलती है। इनमें माधव पाणिक्कर की "भगवत गीता" शंकर पाणिक्कर की "भारतमाला" तथा राम पाणिक्कर की "रामायण" "भारत तथा भागवत" आदि प्रमुख हैं। इन रचनाओं की राष्ट्रीय अर्थों में प्रासंगिकता इस बात में निहित है कि जाने-अनजाने ही सही इन्हें पढ़कर जनता देशीय और भावात्मक एकता की दिशा में आकृष्ट होने लगी थी।

कालांतर में वीर गाथा कवियों ने भी अपनी ओजस्वी कविताओं से आम जनता की राष्ट्रीय चेतना को जगाने में अहम भूमिका अदा की। साथ ही एषुत्वच्छन एवं चेरश्शेरी नंपूतरी आदि कृष्णभक्त कवियों ने भी राम और कृष्ण की लीलाओं का गान करते हुए संपूर्ण भारतीय-अस्मिता के साथ केरल को जोड़ दिया।

कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्तर पर राष्ट्रीयता की भावना प्राचीन और पूरे मध्यकाल में संकुचित थी। कहीं वह धार्मिक रूपों में उजागर होती थी तो कहीं क्षेत्रीय स्तर पर। केरल के छोट-छोटे राजा आपस में लड़ते रहते थे। उन पर मुस्लिम आक्रमणों तथा बाद में अंग्रेजों के आधिपत्य के काफी बाद तक आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता नहीं जागृत हो पायी थी। इस समय के कवि कुंचन नायर की रचनाओं में इन विसंगतियों के प्रति गहरा व्यंग्य दीख पड़ता है।

आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता की चेतना बल्लतोल, कुमारन आसन और उल्लूरनी की कविताओं में मिलती है। वल्लतोल की 'साहित्य मंजरियाँ' देशभक्ति के भाव से प्रेरित हैं। उनकी कविताओं में 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की उदार भावना वीरों को मातृभूमि के लिए सर्वस्व अर्पण के लिए प्रोत्साहित करती हैं। वल्लतोल पूरी तरह राष्ट्रीय चेतना के कवि थे।

'मातृवंदन', 'मेरी कृतघ्नता', 'जमाना बदल गया,' 'मातृभूमि', 'सत्यगाथा', 'मेरे गुरूदेव' आदि उनकी रचनाओं ने गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता के संघर्ष के दौर में राष्ट्रीय चेतना की शिखा को निरंतर उद्दीप्त किए रखा। सुप्रसिद्ध समाज सुधारक श्री नारायण गुरू के शिष्य कुमारन आसन की कविताओं में देशभक्ति के अतिरिक्त केरल के तत्कालीन समाज में प्रचलित छुआछूत जातिपांति की जड़प्रथा पर गहरी चोट है। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक ये कुरीतियाँ दूर नहीं होती स्वतंत्रता भारत के लिए स्वप्न ही रहेगी। 'चंडाल भिक्षुणी' और 'दुरवस्था' जैसे काव्यों में उनकी इस चिंता को देखा जा सकता है। आशान और वल्लतोल के समकालीन महाकवि उल्लूर ने महाभारत को केंद्र मानकर अपने समृद्ध अतीत ओर वर्तमान दयनीयता दोनों का निरूपण किया है। उनका मानना है। कि निरंतर प्रयत्नों से भारत फिर उस स्वर्गीय श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है इसी तरह वल्लतोल स्कूल के कुटिपरम केशवननायर, वल्लतोल गोपालमेनन वी उण्णकृष्णन नायर आदि की रचनाओं में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति के स्वर काफी उदात्त हैं।

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता जी. शंकर कुरूप की कविताओं में गांधी जी के अहिंसात्मक संघर्ष तथा भारतीयों के जीवन उत्सर्ग की भावना का बखान है। "साहित्य कौतुकम् से बनगायक" तक सारी कविताओं में उनकी राष्ट्रभक्ति में अपने सांस्कृतिक विरासत के प्रति गर्व का भाव सर्वोपरि है जबकि 'स्त्री' और 'कर्मक्षेत्र' कविताओं में उनका क्रांतिकारी व्यक्तित्व देश के लिए प्राणोत्सर्ग पर रोमांचित हो जाता है। लेकिन कुरुप की स्वतंत्रता के बाद की कविताओं में भी भावुकता निहित है। वह भारत की स्वतंत्रता को सारे विश्व के लिए वरदान स्वरूप मानते हैं। 'यही कामना है' शीर्षक कविता में वे नवयुग के उत्थान के प्रति काफी आश्वस्त दीखते हैं। इसी तरह एन. वी कृष्णवारियर, सुगत कुमारी, एन वी कक्कड़, ओ एन वी. करूप, एस. के पोटटेककाट, वालमणि अम्मा, पी कुंजिराम नायर आदि अनेको नाम ऐसे हैं जिनकी कविताओं में देशभक्ति तथा स्वतंत्रता के संघर्ष के वीरोचित भावों के साथ ही साथ देश में व्याप्त गरीबी तथा सामाजिक असमानताओं पर भी गहरी चोट है।

आज की मलयालम कविता में आधुनिक जीवन की त्रासदी, अमानवीयता, प्रतिस्पर्धा, स्वार्थपरता, शहरों द्वारा गांवों का शोषण तथा भ्रष्टाचार आदि विषयों पर केंद्रित होकर कविता लिखी जा रही है, जिसके मूल में अपने राष्ट्र की बेहतरता का भाव ही निहित है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मलयालम कविता मे राष्ट्रीय चेतना का भाव काफी अरसे से रहा है जिसकी परंपरा पूरे स्वतत्रता आंदोलन से लेकर अब तक चली आयी है।

अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सिंधु प्रदेश भारतीय राष्ट्रीयता का परीक्षण केंद्र रहा है। इस पश्चिमोत्तर प्रांत को निरंतर बाह्य आक्रमण की पहली मार सहनी पड़ती रही है, आक्रमणकारियों के विरूद्ध सिंधु नदी देश की मौलिक सांस्कृतिक एकता के प्रहरी के रूप में निरंतर व्यवधान बनती रही है। कहना न होगा सिंधु को विदेशियों ने हिंदू कहा। इसी आधार पर इस देश का हिंदुस्तान नाम पड़ा तथा यहाँ के निवासी हिंदू कहलाए। इसलिए सिंधी कविता मे राष्ट्रीय चेतना काफी पहले से मिलती है। कवियों ने सिंधु की रानी विदुला और राज दाहिर की वीरता के गीत गाये, जिन्होंने सिंधु क्षेत्र को बचाने के लिए विदेशी आक्रमणकारियो से जम कर लोहा लिया। चचनामा और कल्हण की राजतरंगिणी मे सिंधु प्रदेश की राष्ट्रीयता के इस भाव को देखा जा सकता है। जैसा कि मैंने पहले लिखा कि अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सिंधु प्रदेश विदेशी आक्रमणों का निरंतर निशाना रहा है। शाह अब्दुल लतीफ की 'अमर मारुई' मे नादिर शाह के

आक्रमण के समय के जनप्रतिरोध, तथा अंग्रेजों के सिंधु आक्रमण (1843) में वहाँ के सेनापति होश मुहम्मद के प्राणोत्सर्ग एवं देशभक्ति की भावना कवि अमर जलील, की कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। सिंधु पर अंग्रेजों की विजय 1843 में हुई थी और उसके कुछ दिनों बाद ही 1857 में स्वतंत्रता का पहला संग्राम हुआ था। सिंध के राष्ट्रीय संघर्ष में योगदान तथा राष्ट्रीयता के जागृत स्वर का उद्घोष बलदेव गाजरा के 'आजदीअ जे युद्ध में सिंध जो भाग' में दर्शनीय है। किशनचंद्र बेबस, हुंदराज दुखायल की कविताओं में स्वतंत्रता संग्राम के पूरे दौर की राष्ट्रीय चेतना के स्वर मिलते हैं। सिंधी कविता में भारतीय राष्ट्रीयता के साथ ही एक और स्वर मिश्रित है, और वह है सिंधी प्रदेश का उस प्रदेश की जनभावना के विरोध के बावजूद काटकर पाकिस्तान को दे दिये जाने के प्रति बेबसी मिश्रित आक्रोश का। इसके बाद भी सिंधी कविताओं में राष्ट्र भक्तिपूर्ण कविताओ का प्रणयन होता है। 1962 के चीन तथा 1965 व 1971 में भारत-पाकिस्तान संघर्ष के दौरान हुंडराज दुखायल, हरिदिलगीर बलदेव गाजरा, राम पंजाबाणी, गोवर्धन भारती, खोअलदास फानी तथा अर्जुन शाद की कविताएँ काफी महत्वपूर्ण हैं।

इस पुस्तक में हिंदी कविता के राष्ट्रीय चेतना से संबधित दो लेख सम्मलित किए गए हैं। जिसमें पहला प्रसिद्ध आलोचक नगेंद्र का "हिंदी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता" तथा दूसरा है "हिंदी कविता में राष्ट्रीय चेतना "शीर्षक से शांतिस्वरूप गुप्त का लेख। नगेंद्र जी का मानना है कि आधुनिक हिंदी कविता में देश भक्ति की जो प्रवृत्ति मिलती है उसके लिए राष्ट्रीय सांस्कृतिक शीर्षक अधिक सार्थक एवं व्यापक होगा। वे यह भी मानते हैं कि इन कविताओं मे भावात्मक और क्रियात्मक रूप की अभिव्यक्ति वहाँ मिलता है जहाँ छायावाद में गांधीवाद का सौंदर्य पक्ष मिलता है।

देखा जाय तो हिंदी कविता में संकुचित अर्थो में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना का उन्मेष मध्यकाल से ही है। राजपूतों में मातृभूमि के प्रति प्राणोत्सर्ग की प्रवृत्ति काफी पुरानी है। लेकिन ये क्षेत्रीय शासक आपसी संघर्षों में व्यस्त रहते थे। उनका शौर्य प्रायः वैयक्तिक होता था। ये शासक एक दूसरे को उतना ही बड़ा शत्रु मान सकते थे जितना किसी विदेशी आक्रांता को। उस काल में राष्ट्र से बढ कर एक और इकाई थी धर्म, जो विभिन्न शासकों को इस मुद्दे पर एक रख सकती थी और कई शताब्दियों तक हिदुत्व की भावना ही राष्ट्रीयता को परिभाषित करती रही थी। आधुनिक अर्थो में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति पहली बार 1857 के विद्रोह मे मिलती है। यह ब्रिटिश शासन के विरूद्ध समूचे देश की संगठित राष्ट्रीय भावना का पहला विस्फोट था जिसमें प्रदेश और संप्रदायों की सीमाओं से उबरकर पूरे देश में राष्ट्रीयता की लहर फैल गयी थी। हिंदी साहित्य में इस समय भारतेंदु युग चल रहा था। भारतेंदु युग के कवियों में अंग्रेजी शासन के कारण आत्म-ग्लानि की भावना तो थी लेकिन उनमें विदेशी शासन के प्रति थोड़ी सी कृतज्ञता का भाव भी था, क्योंकि कम से कम अंग्रेजी शासन ने शताब्दियों की अराजकता और शांति को समाप्त कर एक स्थिरता का वातावरण तो निर्मित किया ही था।

राष्ट्रीयता के द्वितीय उत्थान के मूल में राष्ट्र की प्राचीन गौरवशाली विरासत के प्रति गर्व, अपने ऐतिहासिक पुरूषों तथा ग्रंथों में स्थापित श्रेष्ठ मूल्यों के प्रति आदरभाव प्रमुख था। साथ ही यह माना जाने लगा था कि भारत के पतन का मुख्य कारण स्त्रियों की हीनावस्था, अनाचार, अशिक्षा तथा जाति व्यवस्था है। इस युग की राष्ट्रीय चेतना समन्वय पर ज्यादा बल देती है। इस समय हिंदू , मुस्लिम, सिख, पारसी सभी धर्मों और संप्रदायों से एक जुट होकर विदेशी शासन के विरोध का आहवान किया गया और इसका समन्वित मंच था, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस। राष्ट्रीयता

का तृतीय उत्थान का दौर कांग्रेस के आंदोलन के जोर पकडने और गांधी जी के नेतृत्व से शुरू होता है। इस समय राष्ट्रीयता अपने समग्र रूप से उभर आयी थी। प्रांतीयता, सांप्रदायिकता की संकीर्ण प्रवृत्तियों से परे संपूर्ण देश एक इकाई बन चुका था। अतः समूचा देश यह मानने लगा था कि सारी समस्याओं का मूल कारण विदेशी शासन है। गुलामी अभिशाप है इसलिए स्वराज्य प्राप्ति सर्वप्रथम लक्ष्य है। अब राष्ट्रीयता की लहर ने पूरे देश को झकझोर दिया था।

राष्ट्रीय विकास के इन सभी उत्थानों को हिंदी की तत्कालीन कविता की परंपरा में देखा जा सकता है। श्री नगेंद्र की नजर में राष्ट्रीयता की भावना हिंदी कविता में गांधी के पदार्पण यानी 1917 से होती है। लेकिन हम उस प्रवृत्ति को जिसकी शुरूआत 1857 के गदर से होती है तथा समूचे भारतेंदु युग में विकास पाती रही, नजरदाज नहीं कर सकते। यदि उस काल के कवियों ने विक्टोरिया के प्रति 'धन्यतिहारो राज अरी मेरी महारानी" का भाव है तो उस के साथ ही ब्रिटिश शासन द्वारा किये जा रहे आर्थिक शोषण पर आक्रोश भी है। अंग्रेज राज सुख सज सब भारी पै धन विदेश चलि जात इहै अति खब्बारी। इस युग के सभी कवियों प्रेमधन, प्रताप नारायण मिश्र, भारतेंदु राधाकृष्ण दास आदि ने भारत की तत्कालीन स्थिति पर क्षोभ व्यक्त किया। भारतेंदु ने "रोवहु सब मिल के आवहु भारत भाई, हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई" लिखकर स्थितियों के प्रति क्षोभ व्यक्त किया, साथ ही इन कवियों ने सभी भारतीयो को अपने मतभेद भुलाकर एकजुट होकर संघर्ष करने को प्रेरित भी किया था। राधाकृष्ण दास ने लिखा 'चलहुवीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उडायो/लेहुम्यान सो खंग रन रंग जमाओ। लेकिन यह भी सच है कि राष्ट्रीयता की ज्वाला मैथिली शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान, तथा सोहनलाल द्विवेदी जैसे कवियों में प्रथम रूप मे सामने आयी। गुप्त जी की "भारत भारती", "साकेत", और "यशोधरा", दिनकर की "हुंकार", माखनलाल जी की "हिमकिरीटनी", सुभद्रा कुमारी चौहान का "मुकुल" की भैरवी में मातृभूमि के लिए सर्वस्व अर्पण का भाव काफी प्रबल है। इस दौर की कविता मे एक बात खासतौर पर रेखांकित की जानी जरूरी है कि इसमें शीश दान के प्रति उत्साह का प्रबल भाव है और इस का कारण तत्कालीन राजनीतिक दौर में गांधी के आदोंलन में अत्याचारी शासन के प्रति, अहिंसक विरोध करते हुए कष्ट सहने के दर्शन का प्रभावी होना है। इस समय के कवियों ने जहाँ स्वतंत्रता के लिए प्राणोत्सर्ग को श्रेयस्कर माना वहीं पंत आदि कवियों ने स्वतत्र भारत के उज्ज्वल पक्षों के चित्र भी उकेरे।

इस दौर की कविता में अपने देश के प्रति रागात्मक भाव दो रूपों में व्यक्त होता है। प्रथम तो अपने देशवासियों के प्रति और दूसरे अपने देश की भौगोलिक सीमाओं के प्रति। प्रथम वर्ग की कविताएँ भारत की दीन, असहाय तथा साधन हीन जनता को विषय बनाकर लिखी गयी हैं। नरेंद्र, शिवमंगल सिंह सुमन, निराला, अंचल आदि की कविताओं मे किसानों, मजदूरों और गाँव के अशिक्षित एवं असहाय वर्ग की करूण स्थिति उजागर हुई है तथा उनकी इस दशा के लिए विदेशी शासन के साथ ही देश के साहूकारों, पूंजीपतियों और जमींदारों को भी उत्तरदायी माना गया है। इसके निजात के लिए कवियों ने इस समूचे अन्याय के खिलाफ एक जुट होने के लिए उत्साहपूर्ण कविताएँ लिखीं। दूसरी ओर कवियों ने अपने देश की भौगोलिकता के प्रति आदर भाव व्यक्त किया। उन्होंने भारत माता के दिव्य रूप की कल्पना की। हिमालय, गंगा, प्रयाग, दिल्ली, चित्तौड, हल्दीघाटी, उनके लिए गौरव के प्रतीक बन गये। मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम-शरण गुप्त, नवीन, निराला, पंत, दिनकर आदि सभी कवियों ने देश की वृहत्तर भौगोलिक विराटता का चित्र खीचकर जनमानस में भारत की एक दिव्यमूर्ति स्थापित कर दी। निराला की 'भारती, जय विजय करे', नवीन की 'हिंदुस्तान हमारा है', प्रसाद की 'अरूण यह मधुमय देश हमारा' आदि

कविताएँ इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। वस्तुतः प्राचीन गौरव की इस पुनरूत्थानमयी भावना में स्वभावतः आर्य संस्कृति की ही जय जयकार है। लेकिन यह कहीं भी संकीर्ण और साप्रदायिक नहीं होने पायी है।

स्वतंत्रता की उपलब्धि समूची हिंदी कविता में एक उत्सव के रूप में मनायी गयी, लेकिन इन कवियों ने इस स्वतंत्रता की प्राप्ति को एक देश की बंधनमुक्ति के रूप में नहीं मनाया, बल्कि इसे साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद से सभी देशों की परतंत्र देशों की मुक्ति का प्रतीक माना। पंत ने लिखा - "भारत स्वातंत्र्य विश्वहित स्वर्ग जागरण" जबकि सियारामशरण गुप्त ने संपूर्ण विश्व की स्वतंत्रता पर ही भारत की स्वतंत्रता माना। 'भारत स्वतंत्र है। स्वतंत्र सभी जब हों' और कहना न होगा हिंदी कविता पर कवि रवींद्र और गांधी जी के प्रभाव के कारण "किण्वंतों विश्वमार्यम" का भाव स्थापित हो चुका था, जिसका आधार जाति, संप्रदाय, वर्ग, देश आदि सीमाओं से परे संपूर्ण मानवता थी।

इस तरह हिंदी की राष्ट्रीय कविता में तीन स्वर काफी स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। प्रथम दासता पर दुख एवं क्षोभ तथा स्वतंत्रता की कामना, दूसरा आत्मगौरव, स्वाभिमान, तथा आत्मविश्वास जगाने के लिए प्राचीन भारत और उसकी सांस्कृतिक समृद्धि का गौरव गान, तीसरे नयी परिस्थितियों नये विचारों और बदलते जीवन मूल्यों के आलोक में आत्मचिंतन, आत्म विश्लेषण तथा नये जीवन मूल्यों का निर्माण। इसमें से प्रथम दोनों मूल्य आजादी के पहले की कविता में मिलते हैं जबकि तीसरा स्वर आजादी के बाद की कविता में काफी व्याप्त है। आज का कवि सभी परंपराओं और मान्यताओं को पुनर्विश्लेषण करने के बाद ही स्वीकार करता है। स्वतंत्रता के बाद की मोहभंग की स्थिति इसके लिए काफी हद तक जिम्मेदार हैं, जिसमें नैतिक मूल्यों के पतन, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता तथा पूंजी के संकेद्रण से आम जनता दुखद परिस्थितियों में जी रही है। कहना न होगा स्वतंत्रता के पूर्व ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध की भावना इस दौर में आकर व्यंग्य और भर्त्सना के स्वरों में बदल गयी। 'दिनकर' की 'कुरूक्षेत्र', 'परशुराम प्रतीक्षा' तथा आगे के कवियों में इसकी पड़ताल की जा सकती है।

कुल मिलाकर यह ग्रंथ स्वतत्रता आंदोलन के दौर में विभिन्न भारतीय भाषाओं की कविताओं में राष्ट्रीयता के स्वर को एक जगह संकलित करने का एक सार्थक प्रयास माना जा सकता है। इससे एक बात और भी साफ होती है कि उस दौर की संपूर्ण भारतीय कविता में राष्ट्रीयता की एक ही प्रवृत्ति विद्यमान थी। पूरे देश की एक संगठित सोच थी। उसमें क्षेत्रीयता, जाति, धर्म या सांप्रदायिकता जैसी प्रवृतियों के लिए कोई स्थान नहीं था। अच्छा हो यदि हिंदी निदेशालय उस दौर की संपूर्ण भारतीय भाषाओं की कविताओं को एक साथ प्रकाशित करे और साथ ही इसे कम कीमत पर पूरे देश में वितरित कराया जाय। इस समय देश में जिस तरह राष्ट्रविरोधी तथा क्षेत्रीयता की भावनाएँ उभर रही हैं उसमें ये कवितायें राष्ट्रीय एकता के लिए एक आदर्श सूत्र का काम कर सकती हैं।

□

भारतीय कविता में राष्ट्रीय चेतना/ संपादक : जगदीश चतुर्वेदी/ प्रकाशकः केंद्रीय हिंदी निदेशालय/ मानव संसाधन विकास मंत्रालय/ भारत सरकार/ मूल्य : 66 रुपये !

द्रौपदी   राष्ट्रीय ऐक्य की संदेशवाहिका

नरेंद्र सिन्हा

निस्संदेह महाभारत की द्रौपदी विश्व साहित्य का एक अद्वितीय चरित्र है जिसको परिस्थितिवश पंचपतियों का वरण करने के कारण बार-बार अपमानित और लांछित होना पड़ा। इस घोर अपमान और लांछना के बावजूद सतीत्व को नारी-जीवन का आदर्श मानने वाले प्राचीन भारतीय समाज ने उसकी गणना पंचसतियों में की है। प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा महाभारत जैसे गौरव-ग्रंथ से पूर्ण परिचय के अभाव में आज भी, गलत या सही, हमारा परिचय उसके इसी रूप से है। लेकिन महाभारत में द्रौपदी की एक दूसरी भूमिका भी रही है - अधर्म पर धर्म, असत्य पर सत्य, अन्याय पर न्याय की विजय का निमित्त बनने की। दुर्भाग्यवश, उसके व्यक्तित्व के इस पक्ष की जानकारी आज भी बहुत कम लोगों को है जिसका एक कारण यह रहा है कि महाभारत पढ़ने का सुयोग सबको प्राप्त नहीं हुआ - कुछ तो इस गौरव-ग्रंथ के विशाल आकार के कारण और कुछ आज भी समाज में प्रचलित इस अंधविश्वास के कारण कि महाभारत रखने से घर में भी महाभारत मच जाएगा। शायद, यह भी एक कारण है कि हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता की प्रतीक अन्य नारियों की अपेक्षा द्रौपदी पर बहुत कम साहित्य की रचना हुई है। हिंदी में जिन थोड़े-से लोगों ने द्रौपदी पर साहित्य-रचना की है, उनमें अग्रगण्य रहे हैं लक्ष्मीनारायण मिश्र जिन्होंने इस विषय पर महाकाव्य की रचना की है।

उड़िया उपन्यास-लेखिका प्रतिभा राय की "द्रौपदी" उनके मूल उपन्यास "याज्ञसेनी" का हिंदी रूपांतर है। रूपांतर शंकरलाल पुरोहित ने अत्यंत गरिमा पूर्ण शैली में संपन्न किया है। इसके लिए प्रतिभा जी ने "मूल व्यास देव रचित "महाभारत" का ही सहारा लिया है। उड़िया में सरला दास के महाभारत का भी कुछ प्रभाव मुझ पर पड़ा है। इसके अलावा कुछ काल्पनिक घटनाओं, पात्रों का समावेश भी मूल कथानक में किया गया है। जगह-जगह मूल महाभारत के घटना-प्रवाह का क्रम भी नहीं रहा। कृष्णा (द्रौपदी) के किसी मरणशील देहधारी नारी की तरह बिडंबित, वैचित्र्यपूर्ण जीवन के मनोवैज्ञानिक चित्र देने की चेष्टा मैंने की है।

"पुरूषोत्तम कृष्ण ही हैं महाभारत के नायक। कृष्ण और कृष्णा–दो नामों के बीच आत्मिक संयोग के जरिए मैंने देहातीत प्रेम (Spiritual Love) संबंध दिखाया है। कृष्ण और कृष्णा के बीच सखा-सखी यह Spiritual Love (आध्यात्मिक प्रेम) अन्य ग्रंथकारों ने पहले भी जगह-जगह दिखाया है। पर कृष्णा के अलौकिक चरित्र को देख कौन नारी या किस युग में उन्हें प्रेम किए बिना रहा जा सकता है।"

प्रतिभा राय की द्रौपदी एक अत्यंत रूपवती, गुणवती विदुषी नारी है जो व्यक्तिगत जीवन में विभिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों वाले अपने पंचपतियों की सत्ता में अपनी सत्ता-विलीन करके एक सती नारी का आदर्श उपस्थित करती है, तथा इसी क्रम में आर्य-आर्येत्तर सभ्यताओं के बीच मैत्री, सद्भाव एवं समन्वय स्थापित कर राष्ट्रीय ऐक्य की संदेशवाहिका की भूमिका का

निर्वाह करती है। इस प्रकार वह धर्म और सत्य तथा न्याय की रक्षा के लिए उनके संघर्ष में, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में उनकी सहायिका बनती है।

द्रौपदी का जन्म ही होता है पिता द्रुपद के बचपन के सखा द्रोण द्वारा किए गए उनके अपमान का बदला लेने के लिए। द्रौपदी अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ यज्ञवेदी के दो भागों से तरुणी के रूप में ही जन्म लेती है। धृष्टद्युम्न का जन्म होमाग्नि से होता है। उपयाज ऋषि की सलाह पर नाम रखा जाता है कृष्णा। जन्म के समय ही आकाशवाणी होती है - 'यह कन्या तुम्हारे अपमान का बदला लेने ही जन्मी है। प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए आविर्भूत हुई है। इससे पृथ्वी पर धर्म की रक्षा होगी। यह कौरव नाशिनी होगी।

द्रुपद कृष्णा का विवाह आर्यावर्त के श्रेष्ठ वीर द्वारिकाधीश कृष्ण से करना चाहते हैं और कृष्णा भी कृष्ण की कीर्ति सुनकर ही उनको अपना वर मनोनीत कर लेती है। लेकिन बाद में पिता के अतिथि रूप में उपस्थित होकर स्वयं कृष्ण द्रुपद को कृष्णा के लिए स्वयंवर रचवाने का प्रस्ताव करते हैं। कृष्ण कहते हैं कि उनके समान एक और वीर है उनकी बुआ का पुत्र अर्जुन जो द्रौपदी के योग्य है। द्रुपद के मन में द्रोण से प्रतिशोध की ज्वाला धधक रही होती है, वह यह सोच कर कृष्ण का प्रस्ताव मान लेते हैं कि यदि कृष्ण की जगह अर्जुन ही उनके अपमान का बदला ले तो उसको जंवाई बना कर संतोष ही होगा। कृष्णा के मन में यह बात उठती है कि क्या उसकी अपनी कोई इच्छा, कामना या आकांक्षा नहीं, लेकिन उसके खिन्न चेहरे को देखकर कृष्ण उसे समझाते हैं कि तुम्हारा जन्म सिर्फ पिता के शत्रु का बदला लेने के लिए ही नहीं, बल्कि पृथ्वी के दुराचारियों का विनाश करने के लिए हुआ है तथा "बाहय शत्रुओं को जीतने के लिए पहले हम आंतरिक शत्रु अर्थात इंद्रियों को जीतें . कामना, वासना, मन, हृदय और बौद्धिक विचारों को धर्म की स्थापना के लिए उत्सर्ग कर दो", "बेहतर स्वार्थ के लिए शुद्र स्वार्थ की बलि" दे दो तो वह अपने को कृष्ण की इच्छा के आगे उत्सर्ग कर देती है। कृष्ण के कहे अनुसार वह मान लेती है कि अर्जुन के शरीर में कृष्ण ही प्राण-आत्मा हैं, अर्जुन को पाकर वह कृष्ण को ही पा लेगी।

यहीं से अलौकिक पुरूष कृष्ण से उसका देहातीत प्रेम शुरू होता है जो एकाधिक अवसरों पर बार-बार उसको यह धर्म-बोध कराते रहते हैं कि उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है, अपने जीवन की लक्ष्य-सिद्धि ही उसका परम धर्म है। यह धर्म-बोध उसे नारद आदि ऋषि-मुनि भी कराते रहते हैं जिससे प्रेरणा प्राप्त कर वह अपने इंद्रियों को वश में करके अपने त्याग और क्षमाशीलता का परिचय देती रहती है। अपने ज्येष्ठ पति युधिष्ठिर द्वारा क्षमाशीलता का महत्व समझाए जाने पर अपने क्रोध और क्षोभ पर विजय पाकर वह दुर्योधन की बहन दुःशीला के पति जयद्रथ को भी, जो उससे बलात्कार करना चाहता है, क्षमा कर देती है। इसी भावना के अधीन वह कौरवों के पक्षधर कर्ण को भी अपने मंत्रबल से जीवन-दान देती है, जिसे घोर अरण्य में एक सर्प ने काट लिया होता है। जीवन में हर घड़ी अपने जन्म का उद्देश्य स्मरण रखने के कारण ही वह अपने मन की नारी-सुलभ ईर्ष्या के बावजूद अर्जुन जब नागदेश की राजकुमारी उलूपी, कलिंग देश की आर्या, मणिपुर की चित्रांगदा और बलराम तथा कृष्ण की बहन सत्यभामा से राजनीतिक विवाह करते हैं तो वह उन्हें सहज भाव से अपना स्नेह और सद्भावना देकर संतुष्टि का अनुभव करती है। कलिंगराज की कन्या आर्या से विवाह करने पर नारद उसको इन विवाहों का महत् उद्देश्य बताते हुए कहते हैं, "फाल्गुनि (अर्जुन) के ये विवाह महायुद्ध के प्रस्तुति पर्व हैं . . . कलिंग, नागलोक, मणिपुर वीर भूमियाँ हैं . . . अतः फाल्गुनि ने विवाह के ज़रिए उन वीर भूमियों से मित्रता

स्थापित की है । दूसरे अर्थ में आगामी युद्ध के लिए उन्हें पत्रिका दे आए हैं । अब यदि कौरवों-पांडवों में युद्ध छिडे तो इन देशों का पूरा सहयोग मिलेगा।" इसी प्रकार द्रौपदी चीर-हरण के तुरत बाद दुर्योधन के निमंत्रण पर हुई दूसरी द्यूतक्रीडा में युधिष्ठिर के हारने के बाद जब पांडव बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञात वास पर निकलते हैं तो काम्यक वन में द्रौपदी क्षत्रिय-नाश का व्रत लिए किरातराज से मित्रता स्थापित करने में अपना योगदान करके आर्य-आर्येत्तर सभ्यताओं में मित्रता एवं सद्भाव स्थापित करती है । कुबेर जब द्रौपदी को दस लाख स्वर्ण-कमल भेंट करते हैं तो वह इसके विनिमय में काम्यक अरण्य, द्वैत अरण्य, नैमिषारण्य एवं हिमालय के विभिन्न स्थानों, ऋषि आश्रमों और हस्तिनापुर के बीच संयोग स्थापित करने वाली सड़कों का निमार्ण करने के लिए अनुरोध करती है। इन सभी प्रसंगों में द्रौपदी राष्ट्रीय एकता की संदेशवाहिका की भूमिका निभाती है । उसकी राष्ट्रभक्ति का चरम तो तब प्रकट होता है जब पाचों पांडवों के साथ स्वर्गारोहण के दौरान पाँव फिसल जाने पर वह गिर जाती है और युधिष्ठिर के आदेश पर पांडव उसे वहीं छोड आगे बढ़ जाते हैं । ऐसी स्थिति मे वह कृष्ण से अपनी जो पाच कामनाएं प्रकट करती है, उनमें से दो से उसके राष्ट्र-प्रेम का परिचय मिलता है – 'जाति, भाषा, धर्म, वर्ण के कारण हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ की तरह कोई देश टुकड़े-टुकडे न हो जाए । महासमर धरती पर कभी न हो ।" अंतिम कामना थी कि इस जन्म की त्रुटियों के लिए पुनः जन्म दो और इसी पवित्र भारत-भूमि पर जन्म दो जहाँ पर क्षणभंगुर देह लेकर आपने जन्म लिया ।" यह कामना आज भी किसी भी देशभक्त की हो सकती है । महाभारत-युद्ध में स्वजनों-परिजनों व बंधु-बांधवों के विनाश और अपार नर-संहार से उसके मन में युद्ध के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होती है और उसको अनुभव होता है कि हिंसा का अंत हिंसा से नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दो-दो विश्व युद्धों की विभीषिका से त्रस्त और तीसरे विश्व युद्ध की आशंका से पीडित भाग के विश्व के लिए प्रतिभाराय की द्रौपदी अहिंसा और शांति का संदेश देती है ।

द्रौपदी के व्यक्तित्व का जो दूसरा पक्ष उपन्यास में उभरता है वह है पंचपतियों का वरण करने के बावजूद एक सती नारी का, जिसके लिए उसे दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण के द्वारा बार-बार अपमानित और लांछित होना पड़ता है। उसका पूरा जीवन ही एक अनवरत कष्ट-गाथा है । उसका मानसिक द्वंद्व तो उसके स्वयंवर के समय से ही प्रारंभ हो जाता है । वह कृष्ण को अपना वर मनोनीत करती है, लेकिन कृष्ण तथा पिता की इच्छा पूरी करने के लिए उसको अर्जुन का वरण करने के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार करना पडता है, जैसे उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता ही न हो । अर्जुन के शरीर में कृष्ण की ही प्राण-आत्मा है, यह सोच कर वह अपने को अर्जुन का वरण करने के लिए तैयार कर लेती है । बाद में अपनी सास कुंती के वचन की रक्षा करने के लिए पंच-पांडवों को अपना पति स्वीकार करना पड़ता है । इसके बाद समस्या आती है विभिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों वाले पांचों पांडवों के साथ युग्म जीवन बिताने में समन्वय स्थापित करने की जिसके लिए वह एक पति के साथ एक वर्ष युग्म-जीवन बिताने का नियम निर्धारित करती हैं । इसके बाद एक-वर्षीय नियम भंग करने के कारण जब अर्जुन वनवास करने जाते हैं तो वह शेष चार पतियों की उपस्थिति के बावजूद सती-धर्म का पालन करने के लिए ब्रह्मचारिणी का जीवन बिताती है । बाद में पांचाल देश की यह राजकुमारी पंच-पांडवों के साथ बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष की अज्ञातवास करती है । अर्जुन जब स्वर्ग से दिव्यास्त्र प्राप्त कर लौटते हैं तो स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी द्वारा दिए गए एक वर्ष के नपुंसकत्व के शाप के साथ । इसको भी वह

वह सहज भाव से ग्रहण करती है। यह सारा कष्ट वह झेल लेती है तो महाभारत युद्ध के बाद पंच पांडवों के साथ स्वर्गारोहण के समय हिमालय की स्वर्ग-रेणु पर उसके पाँव फिसल जाते हैं और धर्मराज युधिष्ठिर के आदेश पर उसको उसी हालत में छोड़ कर पांचों पांडव आगे बढ जाते हैं।

प्रतिभा राय के इस उपन्यास के कई प्रसंगों में द्रौपदी के मानसिक द्वंद्व और अलौकिक पुरूष कृष्ण के प्रति उसके आध्यात्मिक प्रेम का अत्यंत मार्मिक चित्रण संभव हो सका है। इससे महाभारत-युग की संस्कृति पर यथेष्ठ प्रकाश पड़ता है, लेकिन सती-प्रथा महिमा-मंडित भी होती है। द्रौपदी का राष्ट्रीय ऐक्य स्थापित करने वाली नारी का जो रूप इसमें उभरा है, वह आज के समाज के लिए प्रेरक शक्ति सिद्ध हो सकता है, लेकिन क्या आज की आधुनिक नारी सतीत्व के आदर्श को सहज भाव से ग्रहण कर सकेगी ? क्या वह अपनी सत्ता को पति की सत्ता में विलीन कर देने में ही नारी-जीवन की सार्थकता मान सकेगी। उपन्यास में भी द्रौपदी पुरूष-प्रधान सामाजिक व्यवस्था के प्रति एकाधिक स्थलों पर क्षोभ प्रकट करती है, लेकिन क्षोभ प्रकट कर ही रह जाती है, उसका प्रतिकार नहीं कर पाती।

□

द्रौपदी - प्रतिभा राय/अनुवाद : शंकर लाल पुरोहित/ प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज कश्मीरी गेट/ दिल्ली/ पृष्ठ : 244 मूल्य : साठ रुपये।

अंधेरा और रोशनी और शब्द

डॉ. गुरचरण सिंह

"लालटेन और कवि जमाल हुसैन" प्रणव कुमार वंद्योपाध्याय का सातवाँ कविता संग्रह है। सात कविता संग्रह प्रकाशित हो जाने के बावजूद वंद्योपाध्याय को पाठक एक कहानीकार के रूप में ही जानते हैं। एक विधा में पहचान बना लेने के बाद दूसरी विधा में पहचान बनाना सरल नहीं होता। उसके लिए अथक परिश्रम तथा पाठकों को कुछ बिलकुल नया देने की आवश्यकता होती है। "लालटेन और कवि जमाल हुसैन" संग्रह की एक छोटी कविता है। यदि इस कविता की तुलना इसी संग्रह की कुछ अन्य कविताओं से की जाये तो यह कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं है। फिर कवि ने संग्रह के शीर्षक के लिए इसी कविता को क्यों चुना ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्या इसलिए कि यह कविता अभिव्यक्ति के संकट तथा व्यवस्था के आतंक की ओर संकेत करती है या इसलिए कि यह शीर्षक कुछ चौंकाने वाला है। अभिव्यक्ति का संकट और व्यवस्था का आतंक नया नहीं है। हर युग में कवि इसका सामना करता रहा है। हर युग में कवि इसका लाभ भी उठाते रहे हैं। यह कवि के व्यक्तित्व, उसके अनुभव तथा उसके सरोकारों पर निर्भर करता है। व्यवस्था की पूँछ बने लेखकों पर आज भी करारा व्यंग्य कसा जाता है, उनकी पोल खोली जाती है, उनके चेहरों पर पड़े मुखौटों को उतारा जाता है और उनके असली चेहरों को जनता के सामने रखा जाता है। आज भी ऐसे लेखक हैं जो जनता के साथ सीधे जुड़े हुए हैं। ऐसे लेखक सभी संकटों का सामना करते हैं। संघर्ष करते हैं, न्याय के लिए विरोध, विद्रोह करने के लिए कमर कसे रहते हैं।

पिछले पांच-सात सालों में लिखी गयी कविताओं में से कवि ने इस संग्रह के लिए केवल उन्नीस कविताओं को चुना है। कवि का अपनी रचना के प्रति मोह होता है। अपनी ही रचना को खारिज करना निश्चित रूप से कष्ट-साध्य कार्य है। यह कार्य कवि के रचना-कर्म को चुनौती देता है। उसे यह सोचने-विचारने पर विवश करता है कि जिन रचनाओं को उसके खारिज किया है यदि वे स्तरीय रचनाएँ नहीं हैं तो उनकी रचना की उपादेयता क्या रही और एक प्रौढ़ कवि की कलम से उन कविताओं की रचना कैसे संभव हुई। उस कविता की रचना के समय उस कविता के स्तर के संबंध में उसके मन में प्रश्न क्यों नहीं उठे ? हो सकता है कुछ खारिज-कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई हों और प्रकाशित होने पर कवि को भी वे कविताएँ अच्छी लगी हों। कवि को जब अपनी ही कविताओं का संपादन करना पड़ता है तो यह संभावना भी रहती है कि कहीं वह एक अच्छी कविता को खारिज न कर दे। आलोचक की दृष्टि में और कवि की दृष्टि में अंतर होता है। एक कवि आलोचक के रूप में जब किसी अन्य की रचना को देखता है और जब आलोचक कवि अपनी रचना को देखता है तब भी दृष्टि-भेद रहता है।

कवि जब अपनी रचना को खारिज करता है तो कवि और उसके अनुभूत सत्य के बीच द्वंद्व उपस्थित होता है - यह द्वंद्व कृत्रिमता को समाप्त करता है या उसे जन्म देता है - विवाद का विषय हो सकता है। "द्वंद्व जीवन का मूल स्रोत है" - यह सत्य है। इस द्वंद्व से ही कवि या व्यक्ति साक्षात्कार करता है। रचना सृष्टि के समय ऐसा ही द्वंद्व कवि के मन-मस्तिष्क में रहता है। रचना की श्रेष्ठता, अनुभवों की प्रौढ़ता और उसके साथ सीधे टकराव तथा कवि के सरोकारों पर निर्भर

करती है । यदि रचना-सृष्टि के समय ऐसा द्वंद्व या तनाव नहीं रहा है तो रचना स्तरीय नहीं हो सकती । स्तरीय रचनाओं में से श्रेष्ठ रचनाएँ चुनने का काम और कठिन हो जाता है । कवि की कविताओं के छाँटने के क्या मानदंड रहे इसका जिक्र नहीं किया है । चयन करते समय व्यक्ति विशेष का दृष्टिकोण अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है । इसलिए उचित यही था कि कवि अपनी पांच-सात साल की रचनाओ को अपने कुछ मित्र आलोचकों या कवियों को दिखाता और चयन में उनकी सहायता लेता । इससे संभव था कि इन उन्नीस कविताओं से भी अच्छी कविताएँ सामने आ सकतीं जिन्हें कवि ने व्यक्तिगत कारणों से खारिज कर दिया ।

कवि ने कविताओं के साथ केवल रचना वर्ष ही नहीं बल्कि तिथि भी दी है । क्या एक ही दिन में कविता पूरी हो सकती है ? क्या कवि ने उसे माँजने-सँवारने का जरा भी प्रयास नहीं किया ? यदि इन सवालों का जवाब "नहीं" है तो यही कहना पडेगा कि कवि कविता को क्षणिक आवेग की रचना मानता है । कविता अचानक मन-मस्तिष्क में उभरती है और कवि उसे कागज पर उतार देता है । ऐसी कविता की क्या सार्थकता हो सकती है - इस पर विचार हो सकता है ?

कविताओं में कवि जिन विषयों को उठाता है उन पर गद्य-विधा में वह और अच्छी तरह बात कर सकता था । अभिव्यक्ति के लिए कवि ने कविता विधा को क्यों चुना इसकी तरफ एक कविता में संकेत मिलता है - "मैं कविता को/रोशनी, तरन्नुम और अस्त्र में बदल सकूँ ।" इस पंक्ति से लगता है कि कवि परिवेश में व्याप्त विसंगति, विडबना, विद्रूपता के खिलाफ कविता को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहता है ।

कवि कथाकार और निबंधकार भी है । कथा, निबंध और कविता की भाषा में अंतर है । कविता मे गद्य की भाषा अलग से नजर आने लगती है । कवि ने लिखा भी है - "शब्द नहीं मिलते/ कि बात करूँ/अपने ही गिर्द खडे/लोगों से ।" कविता में सपाटबयानी को बुरा नहीं माना जाता, पर भाषा कविता की होनी ही चाहिए । सपाटबयानी में यही सबसे बडा खतरा होता है ।

संग्रह की अधिकांश कविताएँ समकालीन परिवेश के बिंबों को हमारे सामने उघाडना चाहती हैं । कवि विद्रोह और क्रांति की बात तो नहीं करता, पर प्रगतिशील चेतना कुछ कविताओं मे अवश्य नजर आती है । "इस बार भी" कविता में कवि निम्न वर्ग की दयनीय स्थिति का चित्र उभारता है - "एकदम बे-आवाज लोगों की हड्डियाँ/और सर्दी से/काली पड गया खाल ।" पाठक जानते हैं कि सर्दियों, गर्मियों, वर्षा में निर्धन लोगों पर क्या बीतती है । गर्मियों में लोग लू से मरते हैं तो सर्दियों में ठंड से । "लोग जब/सख्त बासी रोटी/तोड रहे होते हैं/कोई धूप के चमत्कार का/ कैसे सजदा करता रहेगा ।" भूखे लोग न तो कविता का आनंद ले सकते हैं और न प्राकृतिक सौंदर्य का । उनकी मुख्य समस्या भूख को मिटाना है -जल/और भोजन के /इंतजार में बैठे । असंख्य हाहाकार ।" एक जगह कवि लिखता है - "कभी हम / जरूर जान लेंगे/यह रोटी/मनुष्य तक/ क्यों नहीं पहुँच पाती ।" जानना और जान लेना में कवि अंतर करता है । जान लेने पर व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है । वह फिर मौन नहीं रह सकता । प्रतिक्रिया ही बिचौलिए, भ्रष्ट, स्वार्थी लोगों को समाज से हटाकर एक अच्छे समाज की स्थापना कर सकता है । कवि को विश्वास है कि एक दिन लोग अवश्य रिएक्ट करेंगे , कवि यह भी जानता है कि एक बार चुनौती देने से परिवर्तन संभव नहीं । बार-बार चुनौती देने, हारने और हार मे से पुनः साहस का संचार करने की आवश्यकता है, तभी समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है ।

संग्रह की अधिकांश कविताओं में वर्णन अधिक है । उदाहरण के लिए "खत लिखते हुए" या "मेरा संसार" कविता को लिया जा सकता है । अधिक वर्णन कविता को गद्य के नजदीक ले आता है । भावों की गहनता तथा संवेदनशीलता का अभाव ऐसी कविताओं में खटकता है । इन कविताओं में ऐसा कोई बिंब नहीं उभरता जो मर्म को या मस्तिष्क को छू सके । कुछ कविताओ

के अंश सुंदर है, वहाँ लगता है कि कवि कविता लिख रहा है। अंशों में साधारण शब्दों ने गहरे अर्थों का वहन किया है - "दिन/एक मुड़े-तुड़े/कागज की तरह/आवारा-सा उतरा/और उतरता चला गया पठारों, दर्रों और मैदानों को/पार करता हुआ/मेरे भीतर की अनंत गुफाओं तक।" दिन का संबंध व्यक्ति की व्यथा और तड़पन के साथ है। दिन की रोशनी एक ओर पठारों, दर्रों, मैदानों को आलोकित करती है तो दूसरी ओर कवि के "भीतर की/अनंत गुफाओं तक" पहुँच कर उन्हें भी आशा तथा विश्वास से भरना चाहती है।

कवि ने तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। तत्सम् शब्द बहुत कम आये हैं। उर्दू शब्दों की संख्या भी कम है। साधारण शब्दों को गहन अर्थ देना कवि की विशेषता है। भावों-विचारों के अनुकूल शब्द आगे आते हैं। कवि को शब्द ढूँढ़ने नहीं पड़ते। शब्दों का सहज प्रयोग ही कवि की कविताओं का अलंकार है।

संग्रह में कुछ अच्छी कविताएँ भी हैं। मैं उस ओर भी पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा। मेरे मतानुसार संग्रह में यदि पांच-सात सुंदर कविताएं हों तो संग्रह का महत्व बढ़ जाता है। "सैनिक का पड़ाव" सुंदर कविता है। यह मर्म और मस्तिष्क दोनों को छूती है। भावों-विचारों का सुंदर समीकरण इस कविता में देखने को मिलता है - सैनिक जानता है/अथाह शून्य में भी/दुर्निवार विश्वास से/कैसे-कैसे/ रास्ता उकेरा जाता है।" सैनिक का अथाह उत्साह, विश्वास, उसकी कल्पनाशीलता हमें प्रेरित करता है। विकास और उन्नति के लिए ऐसे ही विश्वास और उत्साह की आवश्यकता है।

समकालीन कवि प्रेम-प्रसगों पर बहुत कम लिख रहे हैं। कुछ प्रेम कविताएँ जो इधर-उधर देखने को मिलती भी हैं, उनमें रूमानियत अधिक है। कवि की "प्रेम-संबध" कविता इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण रचना है - "उत्ताप मुलायम हथेली/समंदर की तरह/निशान आँकती है।" दुख और व्यथा को व्यक्त करने के लिए कवि लिखता है - "मेरे कंधों के जख्मों पर/एक नन्हा-सा/ पतझर उतर आया था।" जख्म कष्ट और पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं तो पतझर निराशा का प्रतीक है। एक अन्य कविता "प्रेम गाथा" में भी कवि प्रेम के लिए सभी कुछ करने और सहने को तैयार है -"प्रेम की याद में/वंचित जिंदगी के कंगूरे पर/हम अपने घिनौने पापों को/कबूल करेंगे/ भरे बाजार के बीच।"

व्यवस्था विरोध में कवि ने कम लिखा है, शायद इसलिए कि इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। व्यवस्था के इशारों पर पुलिस क्या करती है - "इसी जगह/मटमैले पत्थरों के नीचे/जमाल हुसैन/पकड़े जाने के बाद/एक तूफानी रात/गुम कर दिया गया था।" प्रणव कुमार वंधोपाध्याय जानते हैं कि व्यवस्था अपने खिलाफ कुछ भी सुनना नहीं चाहती, परंतु कवि के शब्द ही रोशनी देने का काम करते हैं - "वही कविता/समृद्ध निवेदन की तरह/बच्चे के हाथ की/ लालटेन ब न गयी।"

□

लालटेन और कवि जमाल हुसैन/प्रणव कुमार वंधोपाध्याय/नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली/ संस्करण 1988/ मूल्य 30 रुपये

बिहार के दिवंगत हिंदी साहित्यकार

डॉ· अमरेंद्र मिश्र

"बिहार के दिवंगत हिंदी साहित्यकार" लेखक सुरेंद्र प्रसाद जमुआर का पाँच सौ तीस पृष्ठ का ग्रंथ है और इसमें उन्होंने बिहार के एक सौ दो दिवंगत हिंदी साहित्यकारों को लिया है। उन्होंने सबसे पहले श्री विजयानंद त्रिपाठी श्रीकवि को लिया है जिनकी जन्मतिथि 1856 और पुण्य-तिथि 1927 दर्शाई गई है। सबसे आखिर में सुरेश दूबे सरस का नामोल्लेख है जिनकी जन्मतिथि 1938 और पुण्य तिथि 1968 दिखायी गयी है। इस ग्रंथ को देखने से यही लगता है कि किसी शोधार्थी का शोधग्रंथ होगा किंतु वस्तुतः यह शोधग्रंथ न होकर परिश्रमपूर्वक किया गया खोजी काम है जिसके पूरा होने में लेखक का सात वर्ष का समय लगा है।

दिवंगत हिंदी साहित्यकारों पर काम करना एक मुश्किल काम है क्योंकि उनके विषय में ठीक-ठीक जानकारी बहुत कम मिल पाती है। दूसरे, वे स्रोत जहाँ से उपलब्ध सूत्र प्राप्त हो सकते हैं वहाँ उदासीनता बरती जाती है। यही कारण है कि इस कटु अनुभव के दौर से गुजरने के बाद श्री जमुआर ने बेबाक टिप्पणी की है कि उन्हें इस काम में किसी का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ और सारा कार्य उन्हें अकेले ही करना पड़ा - यहाँ तक कि कुछ दिवंगत साहित्यकारों के सुपुत्रों ने भी सामग्री आदि देने में घोर उदासीनता बरती। यह एक ऐसा सवाल है जो इस बात को सोचने के लिए मजबूर करता है कि क्या दिवगत हिंदी साहित्यकार (चाहे वह किसी भी प्रदेश के क्यों न हों) उनके प्रति - यानी उनके संबंध में अपेक्षित सूचनाओं तथा जानकारी के तहत इस प्रकार की उदासीनता का बरता जाना ठीक है? इसका जवाब उन लोगों को देना चाहिए जिनसे इस किस्म की सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। क्योंकि दिवंगत साहित्यकारों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में घोर असुविधा व कठिनाइयों का सामना करना होता है।

प्रायः प्रत्येक साहित्यकार के लिए लेखक ने एक ही विधि अपनायी है - यानी दिवगत साहित्कार का संक्षिप्त आत्म-परिचय, नाम, जन्मतिथि, पुण्यतिथि, शिक्षा, प्रकाशित कृतियाँ, अनुवाद, संपादन इत्यादि। और उसके बाद साहित्यकार-विशेष का उसकी कृतियों के साथ उसका परिचय। यह परिचय चूँकि सभी एक सौ दो साहित्यकारों का है। उनमें से कुछ के विषय में यहाँ दिया जा रहा है - श्री देवकी नंदन खत्री जिनका जन्म 18 जून 1861 को बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में हुआ और सन् 1913 में ये स्वर्ग सिधार गए। उनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू-फारसी में हुई। बाद में काशी आने पर हिंदी, संस्कृत, अंग्रेजी का अध्ययन किया। बाबू देवकी नंदन खत्री को हमारे हिंदी साहित्य के इतिहास में "चंद्रकांता" (1891), "चंद्रकांता संतति" (1905), "कटोराभर खून" (1895) जैसे उपन्यासकार के रूप में स्थान दिया गया है। श्री हंस कुमार तिवारी जिनकी जन्मतिथि 13 अगस्त, 1918 और पुण्यतिथि 27 सितंबर 1980 ई दी हुई है, चंपानगर (भागलपुर) में अपने नाना के घर पले-बढ़े। उनकी शिक्षा भी कुछ नहीं थी। पर "सन्मार्ग", "किशोर", "छाया",

"बिजली; "ऊषा" जैसे पत्रों का संपादन किया । तेईस साहित्यिक कृतियाँ प्रकाशित हैं जिनमें कविता-संग्रह, निबंध, उपन्यास हैं।

"यहाँ स्याह होठों पर/सफेद हँसी मिलती है/एक तुनुक तिनके पर/लाख लहर झिलती है/कदम-कदम पर कसौटी है/इम्तिहां है/ और जिंदगी है कि जीभ तक नहीं हिलती है" जैसे गीत तिवारी जी ने ही लिखे है।

राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह के उपन्यास में "राम रहीम" (1936) और "पूरब और पश्चिम" (1951) का विशेष स्थान है। आचार्य रामदहीन मिश्र ने करीब तीन दर्जन पुस्तकें लिखीं। काव्यशास्त्र से संबंधित पुस्तकें जैसे, "काव्यालोक", "काव्यदपर्ण, "काव्य में अप्रस्तुत योजना", "काव्य विमर्श" । हिंदी काव्यशास्त्र को इनसे लाभ हुआ है । मिश्र जी ने भारतीय चिंतनधारा के परिवेश मे भारतीय काव्यशास्त्र विषयक अपनी कृतियों और ईश्वरचंद विद्यासागर, रॉबिन्सन क्रूसो, नेपोलियन, केशवचंद्र सेन, राजाराम मोहन राय जैसी प्रेरक विभूतियों की स्मरणीय कृतियों का प्रणयन करके भारतीय सस्कृति की श्रीवृद्धि की है । आचार्य शिवपूजन सहाय जिनकी जन्मतिथि 9 अगस्त 1893 ई. और पुण्यतिथि 21 जनवरी 1963 ई इस ग्रंथ में दी गई है, ने अपनी उत्कृष्ट साहित्य सेवा से हिंदी साहित्य कोश को और समृद्ध बनाया है । इनके बारह प्रकाशित मौलिक ग्रंथ हैं जिनमें "देहाती दुनिया", "दो घड़ी" एवं "विभूति" - ये तीन ग्रंथ अधिक लोकप्रिय रहे।

बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में 23 दिसबर 1901 ई में प्रख्यात साहित्यकार रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म हुआ था । "माटी की मूरतें" (रेखाचित्र), "पैरों में पंख बाधकर" (भ्रमण) जैसी कृतियो के कारण प्रसिद्ध श्री बेनीपुरी भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के कर्मठ सिपाही रहे । वे जितने अच्छे सपादक, सच्चे देशभक्त एवं निष्ठावान समाजसेवी थे, उतने ही समर्पित साहित्यकर्मी एव सहृदय इन्सान थे । उन्होंने मात्र उन्नीस-बीस की अवस्था में "किसान" पत्र का सपादन किया था । उनका नाटक "अम्बपाली" बौद्धयुग का अति प्रसिद्ध नारी को आधार बनाकर लिखा गया है।

श्री जनार्दन प्रसाद झा "द्विज" हिंदी के संवेदनशील कवि, ओजस्वी वक्ता और चिंतक थे। उनकी कविताओ मे कल्पना की सुषमा तथा वेदना का प्राधान्य है । रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म 23 सितबर 1908 के सिमरिया, मुगेर में हुआ था और 24 अप्रैल, 1974 ई. को आंध्र प्रदेश में इनका देहात हुआ । दिनकर जी ने करीब 23 काव्य और ग्यारह गद्य प्रधान कृतियाँ हिंदी साहित्य को प्रदान की । वे राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कवियों में अग्रणी रहे जिनकी ओजस्वी प्रतिभा का हिंदी जगत ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है । उनके काव्य का प्रखर स्वर मुख्यतः राष्ट्रीय भावना और सांस्कृतिक चेतना का रहा है । "मै विभापुत्र जागरण गान है मेरा, जग का अक्षय आलोक - दान है मेरा" के गायक दिनकर ने एक ओर जहाँ "रेणुका", "हुँकार, "रसवंती", "द्वद्वगीत", "रश्मि रथी," "इतिहास के आंसू", "उर्वशी", "परशुराम की प्रतीक्षा" जैसे काव्य रचे वहां "मिटटी की ओर", "अर्द्धनारीश्वर", "संस्कृति के चार अध्याय", "शुद्ध कविता की खोज" जैसी मूल्यवान गद्य कृतियाँ, हिंदी साहित्य को प्रदान की । हिंदी साहित्य मे दिनकर का रचनात्मक योगदान बहुत बडा है।

बिहार के पुलिस प्रशासन ने जिन दो महान प्रतिभाओं को साहित्य के क्षेत्र मे उतारा है उनमें एक हैं कविवर केदारनाथ मिश्र "प्रभात" जो अनेक गीतों और प्रबंधकाव्यों के सफल प्रणेता हैं और दूसरे श्री बदरी नारायण सिन्हा जो 27 वर्षो तक बिहार पुलिस प्रशासन में वरिष्ठ पदाधिकारी

के पद पर कार्यरत रहे और अनवरत रूप से साहित्य तथा कला के साथ भी जुड़े रहे । उन्होंने "बिहार पुलिस पत्रिका" का संपादन किया । राजकमल चौधरी ने मात्र 38 वर्ष की आयु पाई पर अल्प अवधि में ही उन्होंने बांग्ला उपन्यास "चौरंगी" का अनुवाद किया - साथ ही "मछली मरी हुई", "नदी बहती थी", "देहगाथा", "बीस रानियों के बाइस्कोप" जैसे उपन्यास और "मुक्तिप्र संग" तथा "कंकावती" जैसी काव्य कृतियों की सर्जना की ।

प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद की ही तरह श्री फणीश्वरनाथ रेणु ने भी 56 वर्ष की आयु पाई थी। उनका जन्म 4 मार्च 1921 ई. को उत्तरी बिहार के पूर्णिया जिले में औराही हिंगना गाँव में हुआ था। रेणु की शिक्षा मात्र प्रवेशिका तक थी पर उनकी कृतियाँ इस तथ्य की साक्षी हैं कि रचनाकार की प्रतिभा किसी उच्च शैक्षिक डिग्री की मोहताज नहीं होती। हिंदी में ऐसे और भी कथाकार हैं। रेणु ने "मैला आँचल", "परती : परिकथा", "कितने चौराहे", "दीर्घतपा", "पल्टू बाबू रोड", "जुलूस" जैसे उपन्यास लिखे तो "ठुमरी", "रसप्रिया", "आदिम रात्रि की महक", "मारे गए गुलफाम" जैसी मार्मिक कहानियाँ लिखीं । रेणु की कहानियों में ग्रामांचलों के लोकगीत, लोकजीवन, रूढ़ियाँ, पंचायत, सडकों की धूल, धूप, वर्षा, धुआँ, रोशनी आदि संपूर्ण ग्रामीण परिवेश के दृश्य अंकित हैं। अपनी कहानियों को ठुमरी धर्मी कहने वाले रेणु की कहानियों में संगीत का मधुर स्वर सर्वत्र दृष्टिगत होता है । "मारे गए गुलफाम" रेणु की सर्वाधिक चर्चित कहानी है ।

यह ग्रंथ इतिहासलेखन के सही तथ्यों की जानकारी के लिए स्रोत बन सकता है । साहित्य पर शोधकार्य करने वाले शोधार्थियों को इसकी जरूरत होगी । श्री जमुआर ने निश्चय ही काफी परिश्रमपूर्वक इसकी सर्जना की है और इसके माध्यम से अन्य प्रदेशों को भी अनुप्रेरित किया है कि वे भी अपने प्रदेश के साहित्यकारों को लेकर ऐसे ग्रंथ का प्रणयन करें । राष्ट्रीय स्तर पर यह कार्य कठिन है पर प्रदेश स्तर पर यह सफल हो जायेगा जैसे कि प्रस्तुत ग्रंथ हमारे सामने आया

□

बिहार के दिवगत हिंदी साहित्यकार/सुरेंद्र प्रसाद जमुआर/पारिजात प्रकाशन पटना/मूल्य - एक सौ रुपए/पृष्ठ संख्या 536

रपट

हिंदी की अस्मिता

पिछले दिनों राजधानी की साहित्य अकादमी के साहित्यिक मञ्च "संवाद" के तहत सुप्रसिद्ध चेक साहित्यकार डॉ॰ दागमार मारकोवा ने "चेकोस्लोवाकिया और हिंदी" विषय पर अपने विचार प्रकट किये। विद्वान साहित्यकार ने बताया कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में चेकोस्लोवाकिया के प्राग विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन पर जोर था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद रवींद्र नाथ ठाकुर चेकोस्लोवाकिया आए और उनके आगमन के पश्चात् वहाँ के लोगों में उनके साहित्य के बारे में उत्सुकता जगी, यों तो प्रथम महायुद्ध के पहले ही रवि बाबू के उपन्यासों का हमारे यहाँ अनुवाद हो चुका था।

डॉ॰ मारकोवा ने बताया कि हमारे यहाँ "आरियेंटल इंस्टिट्यूट" में हिंदी का अध्यापन द्वितीय विश्वयुद्ध के आस-पास आरंभ हुआ। विश्वविद्यालय के स्तर पर हिंदी का अध्ययन-अध्यापन सन् 1950 में आरंभ किया गया। उन्होंने बताया कि उन्हें प्रथम हिंदी विश्वकोश तब मिला जब वह प्रथम वर्ष की छात्रा थीं -- तब कालेज में, वर्ग में हिंदी के रिकार्ड्स सुनकर हिंदी की पढ़ाई की -- "सतसई", "शकुंतला", "मानस" का अध्ययन किया। चेक में डॉ॰ पोरिस्का ने संक्षिप्त व्याकरण बनाया था।

विद्वान लेखिका ने कहा कि हमारे यहाँ छात्रों को स्कूल में फीस नहीं देनी पड़ती। चेक देश तीन सौ सालों तक गुलाम रहा तब अभिव्यक्ति नाम की कोई चीज नहीं थी क्योंकि जर्मन लोगों का कब्जा था -- सभी काम जर्मन भाषा में ही होते थे। तब चेक किसानों और गंवारों की भाषा थी पर इन्हीं लोगों में से कुछ ने चेक भाषा को प्रतिष्ठा दिलाने हेतु संघर्ष किया, आंदोलन चलाए परिणाम स्वरूप कई लोगों को फाँसी देदी गयी और वे देश से निकाल दिए गए। वे लोग सच्चे अर्थ में देशभक्त लोग थे। योजफ द्रेवस्की ऐसी ही लोगों में थे।

डॉ॰ मारकोवा ने कहा कि चेक की तुलना में हिंदी ज्यादा ताकतवर व समृद्धशाली भाषा है। वह स्वतंत्र देश की भाषा है और राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है।

अनुवाद-कार्य के बारे में उन्होंने कहा कि हमारे यहाँ "हिंदी शब्दकोश" का निर्माण हो रहा है -- इसमें वैज्ञानिक, तकनीकी शब्दावली का भी समावेश आवश्यक है। हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली अभी विकसित हो रही है। पर उपयुक्त शब्दकोश के न होने के बावजूद हिंदी से दूसरी भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध हैं -- श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय की "देवबाला", प्रेमचंद का "गोदान", "निर्मला", "बीसवीं शताब्दी की हिंदी कविता", के साथ-साथ मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर की रचनाओं का अनुवाद भी हुआ है। पिछले वर्ष राजेंद्र अवस्थी के "जंगल के फूल" का अनुवाद हमारे यहाँ हुआ है और यह प्रथम उपन्यास है जो सीधे हिंदी से चेक में अनूदित हुआ है। कुछ उपन्यासों के अंशगत अनुवाद भी हुए हैं जैसे यशपाल के "झूठा सच" और शानी के "काला जल" का आंशिक अनुवाद। आधुनिक हिंदी कविता और साहित्य के प्रति विदेशों में कितनी रुचि है और किस प्रकार उसे अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो रही है यह उसका एक प्रमाण है।

डॉ॰ अमरेंद्र मिश्र

□

इस अंक के लेखक

विष्णु प्रभाकर	हिंदी के प्रख्यात कथाकार। शरतचंद्र चट्टोपाध्याय की जीवनी "आवारा मसीहा" के रचनाकार। उपन्यास, कहानी तथा नाटक संग्रहों के प्रति निष्ठावान सर्जक। संपर्क: 818 कुण्डेवालान, अजमेरीगेट, दिल्ली - 110006
ललित शुक्ल	साठोत्तरी पीढ़ी के समर्थ रचनाकार। कविताओं के पांच संग्रह, दो उपन्यास एवं कहानी संग्रह और रिपोर्ताज की किताब प्रकाशित। संप्रति: दिल्ली विश्वविद्यालय के मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांध्य) में प्राध्यापक। संपर्क: 4 वाणी विहार, उत्तम नगर, नयी दिल्ली - 110059
इंदु जैन	आधुनिक कविता की प्रतिष्ठित कवयित्री। समकालीन जीवन की टकराहट से उत्पन्न नए भावबोध की पहचान कराने में समर्थ। संप्रति: दिल्ली विश्वविद्यालय के इंद्रप्रस्थ कॉलेज में वरिष्ठ प्राध्यापक। संपर्क: ए/1 इंद्रप्रस्थ कॉलेज स्टाफ क्वार्टर्स, दिल्ली - 110054
डॉ स्वर्णलता मिश्र	नवोदित हिंदी लेखिका। पत्र-पत्रिकाओं में भारतीय संस्कृति विषयक अनुसंधान लेख प्रकाशित। देश-विदेश में चित्रों की प्रदर्शनी। संपर्क: 20 कालूराम क्वार्टर्स, रूडकी, उ प्र।
परमानद पांचाल	विद्वान लेखक। हिंदी भाषा के विकास पर विशेष कार्य। उर्दू भाषा और साहित्य का विशेष अध्ययन। दक्खिनी हिंदी के इतिहास और उसके विकास का आधुनिक हिंदी में योगदान। संपर्क: 232-ए, पाकेट I मयूर विहार, दिल्ली - 91
डॉ रणजीत साहा	सुपरिचित लेखक, आलोचक, निबंधकार। संस्कृत, बांग्ला के समर्थ विद्वान। संप्रति: सहायक संपादक, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली - 110001
सुरेंद्र मोहन मिश्र	भारत के आधुनिक इतिहास एवं हिंदी भाषा के अध्येता। प्राचीन हिंदी साहित्य पर विशेष कार्य। संपर्क: ए/4/एफ 4 नवभारत अपार्टमेंट, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली।
रामप्रकाश कुशवाहा	काशी हिंदू विश्वविद्यालय से एम. ए. और पी-एच. डी की उपाधि। विशिष्ट पत्र पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। संप्रति: स्वतंत्र लेखन। संपर्क: चंदवक, जौनपुर, उत्तर प्रदेश।

प्रताप सहगल	समकालीन पीढ़ी के सुपरिचित कवि । समीक्षक एवं प्रसिद्ध नाटककार। सम्प्रति : रीडर, ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य) दिल्ली। संपर्क : एफ 101, राजौरी गार्डेन, नयी दिल्ली-110027
चंद्रकांता	हिंदी कथा साहित्य में सुपरिचित हस्ताक्षर । चार कहानी संग्रह, चार उपन्यास । चारों उपन्यास पुरस्कृत । पत्र पत्रिकाओं में नियमित लेखन। संपर्क : 93 सूर्य नगर, भुवनेश्वर 751003
डॉ परमानंद श्रीवास्तव	नयी कविता के प्रसिद्ध कवि, आलोचक । आधुनिक कविता पर विशेष आलोचनात्मक कार्य । सदस्य, साहित्य अकादमी हिंदी परामर्श मंडल। संप्रति : रीडर, गोरखपुर विश्वविद्यालय । "आलोचना" (त्रैमासिक) से संबद्ध । संपर्क : बी-70 आवास विकास कॉलोनी, सूरजकुण्ड, गोरखपुर (उ.प्र.)।
महेंद्र मधुकर	कवि एवं आलोचक । संपादक "नया आलोचक" । बिहार विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर । संपर्क : क्लब रोड, मुजफरपुर, बिहार 842002
मोहन राणा	युवा कवि । विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और साक्षात्कार प्रकाशित। संपर्क : 22/4 शामनाथ मार्ग, दिल्ली 110054
दिविक रमेश	सुपरिचित कवि । सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार एवं हिंदी अकादमी दिल्ली का साहित्यिक कृति पुरस्कार । कविताओं के संग्रह प्रकाशित। संपर्क : बी-295, सैक्टर-20, नौएडा 201301
हरदयाल	आधुनिक हिंदी कविता और साहित्य के विख्यात आलोचक। संपर्क : एच 50 पश्चिमी ज्योतिनगर, शाहदरा, दिल्ली 110032
अनुभूति चतुर्वेदी	युवापीढ़ी की प्रतिभाशाली कवयित्री । नाट्यमंच और नृत्य कला में सक्रिय। संपर्क : ए/35 निर्माण विहार, दिल्ली - 110092
चंद्रकला त्रिपाठी	कविता और हिंदी समीक्षा क्षेत्र में विशेष कार्य । पत्र पत्रिकाओं में रचनाएँ। संपर्क : 8 शिक्षक आवास, त्यागराज कालोनी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।
डॉ रणवीर रांग्रा	हिंदी के विद्वान । उपन्यासों पर विशेष कार्य । प्रसिद्ध कवियों और लेखकों से साक्षात्कार की नयी विधा का प्रतिमान स्थापित करने वाले लेखक। निवृत्त निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय । संपर्क : सी 7/180 नवीन निकेतन, नयी दिल्ली।

आंनद त्रिपाठी	युवा लेखक और कवि । पत्र-पत्रिकाओं में लेखन । संपर्क: 4 सफदरजंगलेन, नईदिल्ली - 110011
नरेंद्र सिन्हा	कवि, लेखक, पत्रकार । भारतीय सूचना सेवा, निवृत्त अधिकारी । लगभग छह वर्ष तक केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की मासिक पत्रिका "आजकल" के संपादक रहे । संपर्क: पाकेट ए/7/ए, विकासपुरी एक्सटेंशन, नया आउटर रिंग रोड, नयीदिल्ली-110018
गुरचरण सिंह	"यात्रा", "डूब जाती है नदी" "अपना - अपना सच" उपन्यासों के लेखक । आलोचना की दो पुस्तकें । पत्र पत्रिकाओं में रचनाएँ । संपर्क: 6/15 अशोक नगर, नयी दिल्ली - 110018

□